भारत के महान् शिक्षाशास्त्री

भारत के महान् शिक्षाशास्त्री

लेखक

परमेश्वर प्रसाद सिंह, एम० ए०

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-७

समर्पण

परम पूज्य अग्रज
श्री महेश्वर प्रसाद सिह जी के
कर कमलो में सादर

प्राक्कथन

इस पुस्तक में भारत के सात महान् शिक्षा-शास्त्रियों के ोवन-दर्शन संकलित किए गए है। ऐसी कोशिश की गई है कि संक्षेप , उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के मूल तत्त्व प्रस्तुत कर दिए जाएँ। साथ ो वर्तमान भारत की शैक्षणिक परिस्थिति की ओर सकेत करते हुए ातिपय आवश्यक सुधारो की ओर भी ध्यानाकृष्ट किया गया है।

आशा है, यह पुस्तक मुख्यत हमारे भारतीय किशोरो के लिए ात्यन्त लाभदायक सिद्ध होगी।

—परमेश्वर

अनुक्रमणिका

१ | भगिनी निवेदिता

भगिनी निवेदिता एक आदर्श नारी थी। उनका जन्म किसी एक जाति एव राष्ट्र के लिए नही, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के लिए हुआ था। शाश्वत एव चिरतन सत्य की खोज मे उन्होने अपनी सारी जिन्दगी व्यतीत कर दी। सत्कर्म उनके जीवन का साधन था और मानव-कल्याण जीवन का साध्य। उन्होने अपने चरित्र के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया कि निःस्वार्थ भाव से उत्प्रेरित होकर, जन-कल्याण के लिए शत्रु से मिलने पर भी वह मित्र बन जाता है, और स्वार्थ-साधन के लिए मित्र से मिलने पर भी वह शत्रु बन जाता है। तात्पर्य यह कि इस ससार मे मनुष्य का दोस्त और दुश्मन दूसरा कोई नही होता, वह स्वय ही होता है। जैसा वह करेगा, वैसा ही वह पायेगा।

जन्म, बाल्यकाल एव शिक्षा-दीक्षा—

भगिनी का जन्म आयरलैंड के डुन्गानन टिरान नामक स्थान मे २८ अक्तूबर सन् १८६७ ई० को हुआ था। उनके पिता का नाम सैमुअल रिचमॉण्ड और माता का नाम मेरी इसाबेल हेमिल्टन था।

चूँकि भगिनी अपने माता-पिता की सबसे बड़ी पुत्री थी, अत घरेलू कार्यो की देखरेख भी उन्हे ही करनी पड़ती थी। साथ ही वे अपने पिता के समाज-सेवा कार्य में भी काफी दिलचस्पी लेती थी। जब कभी रिचमॉण्डजी का धार्मिक प्रवचन होता था, वे बड़े ध्यान से सुनती थी। इस प्रकार बचपन से ही उनके हृदय मे धर्म के प्रति आस्था एव दीन-दुखियो के प्रति सहानुभूति का भाव जागृत होने लगा।

किन्तु दुर्भाग्यवश पिता का प्यार उनको बहुत दिनों तक नही मिल सका। कारण, चौंतीस वर्ष की उम्र मे ही सेमुअल रिचमॉण्ड इस ससार-सागर से विदा हो गए। पति की मृत्यु से मेरी इसाबेल हेमिल्टन को अतिशय दु ख हुआ, और अपने सभी बच्चो के साथ वे 'डेवानशायर' से अपने पिता. हेमिल्टन के पास 'आयरलैंड' चली आयी, और वही पर स्थायी रूप से रहने भी लगी।

हेमिल्टन भी धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। परिणामतः उनकी सगति में भगिनी की धार्मिक प्रवृत्ति और भी बलवती होती गई। नाना हेमिल्टन की छत्रछाया मे ही उन्हे देशभक्ति, दीन-हीनो की सेवा तथा स्वतन्त्रता का सच्चा ज्ञान हुआ। स्कूल की शिक्षा समाप्त करने बाद उनका नाम 'हेलिफॉक्स कालेज' मे लिखा दिया गया।

कालेज के नियमित कार्यक्रम तथा शिष्ट वातावरण का प्रभाव भगिनी के मस्तिष्क पर बहुत ही अच्छा पड़ा। नाना ने छात्रावास मे रहने की इजाजत भी दे दी। छात्रावास का जीवन भगिनी के लिए वरदान सिद्ध हुआ। वहाँ के कठोर नियम का पालन करने से, उनके कर्मठ चरित्र को और भी अधिक बल मिला। वे पूरी तन्मयता के साथ एकाग्रचित्त होकर अध्ययन करने लगी।

छात्र-जीवन मे उनकी विशेप अभिरुचि विज्ञान, सगीत एव ड्राइग मे थी। कहते है उनकी विलक्षण प्रतिभा पर विद्यार्थी तो क्या, शिक्षकगण भी आश्चर्य प्रकट करते थे। उनके मधुर सगीत की लयात्मक धुन पर तो सभी मुग्ध ही हो जाते थे।

प्रतिभा की धनी होने के कारण ही भगिनी ने १७ वर्ष की उम्र में ही कालेज की परीक्षा मे सफलता प्राप्त कर ली।

शैक्षणिक प्रयोग की पृष्ठभूमि—

सन् १८८४ ई० मे कालेज की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के बाद, उन्होने 'केसविक' के एक विद्यालय मे अध्यापन-कार्य प्रारम्भ किया। दो वर्षो के बाद सन् १८८६ ई० मे उन्हे 'रेक्सहाम' मे एक जगह मिल गई, और वही पर एक सुविख्यात अभिनेता से उनका परिचय भी हुआ। चूँकि दोनो के विचार, स्वभाव एव जीवन-दर्शन मे काफी एकरूपता थी अतः दोनो व्यक्तियो मे घनिष्ठ मित्रता हो गई और मित्रता के अनमोल सम्बन्ध को अमरता प्रदान करने के लिए भगिनो ने उनकी जीवन-सगिनी बनकर रहने की इच्छा भो प्रकट की। किन्तु, शायद प्रभु को यह पवित्र सम्बन्ध पसन्द नही आया, अत. असमय ही उस सुप्रसिद्ध अभिनेता को इस असार-ससार से अपने पास बुला लिया।

परिणाम यह हुआ कि भगिनी ने नौकरी को ि ़तांजलि दे दी और पुन अपनी माता के सम्पर्क मे आकर जोवन-यापन करने लगी। अब उनका अधिकाश समय विभिन्न विषयो के अध्ययन एव आध्यात्मिक चिन्तन मे व्यतीत होने लगा। इसी सिलसिले मे उनका ध्यान स्विट्जरलेंड के महान् शिक्षाशास्त्री पेस्टालॉजी एव जर्मनी के महान् शिक्षाशास्त्री फ्रोबेल के शिक्षा-दशन की ओर गया और वे उनके अभिव्यक्त विचारो से काफी

प्रभावित हुई। बच्चो की प्राकृतिक योग्यता के अनुकूल शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में उनका कहना था, कि—'बच्चो के अनुशासन, खेल, निरीक्षण, अनुकरण और निर्माण के लिए उनकी प्राकृतिक योग्यता के अनुकूल अभ्यास तथा सतुष्टि के माध्यम से शिक्षा का प्रारम्भ होना चाहिए।'

यों तो इस आदर्श को व्यावहारिक रूप देने के लिए उस समय इगलैड के अनेकानेक शिक्षाशास्त्री प्रयत्नशील थे, किन्तु श्री लेगमान एव श्रीमती डी० ल्यू० के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सौभाग्य से उन लोगो के साथ भी भगिनी का परिचय हो गया और ये भी उन्हें अपना सक्रिय सहयोग देने लगी। प्रतिभाशालिनी होने के कारण इनका सम्बन्ध 'सण्डे क्लब' से भी हो गया और शनै-शनै. सिर्फ इनकी वाक्पटुता एव गद्य-लेखन की मौलिकता का ही स्वागत नही किया गया, बल्कि इनका नाम एक कुशल शिक्षाशास्त्री के रूप मे चारो तरफ सुविख्यात हो गया।

कुछ दिनों के बाद इन्होने स्वतंत्र रूप से स्वय एक विद्यालय खोलने की योजना बनाई। लोगो के द्वारा उनकी योजना का भरपूर स्वागत किया गया और परिणामत: सन् १८९२ ई० मे विमल्डन मे एक शिक्षालय की स्थापना भी की गई। ये व्यावहारिक ज्ञान के द्वारा बच्चो को शिक्षा देना चाहती थी। भगिनी का कहना था कि सिर्फ सैद्धान्तिक ज्ञान से बच्चो की मानसिक स्वतत्रता विनष्ट हो जाती है और आगे चलकर उनके विचार भी कुंठित हो जाते हैं।

नई शिक्षा के आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए उन्होंने खेल-कूद को अधिक प्रश्रय दिया। सभी बच्चों को विशेषकर खेल-कूद के माध्यम से ही शिक्षा दी जाने लगी।

विद्यालय में चित्रकार भी रखे गए। इनके चित्रकार चित्रकला मे इतने निपुण थे कि धीरे-धीरे सभी बच्चे स्वत: ही चित्रकला की ओर उन्मुख होने लगे। इस प्रकार लगभग १८९५ ई० तक भगिनी का जीवन शिक्षा की सेवा मे ही व्यतीत हुआ। किन्तु अब धीरे-धीरे इनका विशेष ध्यान अध्यात्म-दर्शन की ओर मुडने लगा और आध्यात्मिक साधना मे ही ये अपना अधिकाश समय व्यतीत करने लगी।

स्वामी विवेकानंद से भेंट—

ज्ञातव्य है कि अन्त प्रेरणा से उत्प्रेरित होने के कारण भगिनी का ध्यान अब सामान्य शिक्षा से हटकर धार्मिक शिक्षा की ओर गया और आत्मिक शान्ति के लिए उन्होने ईसाई धर्म एव प्राकृतिक विज्ञान आदि का विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ कर दिया।

इसी बीच सन् १८९५ ई० मे उनकी लन्दन मे ही स्वामी विवेकानन्द से भेट हुई और उनके वेदान्त-दर्शन से प्रभावित होकर वे उनकी शिष्या भी वन गई। इस सम्बन्ध मे भगिनी ने स्वय अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दि मास्टर एज आई सा हिम' मे लिखा है—

"यह समय आया, जब स्वामीजी के इगलैड छोडने से पहले मैने उन्हे गुरु कहकर सम्बोधित किया। मैने उस व्यक्ति के पराक्रमयुक्त तन्तु को सत्य के रूप मे स्वीकार किया था, और उनके देश के लोगो के लिए उनके प्रेम की दासी वनने की इच्छा भी व्यक्त की थी। लेकिन, इससे भी अधिक मैने उनके चरित्र और स्वभाव का अभिवादन किया था। धार्मिक गुरु के रूप मे मैंने देखा कि उनके पास अपने सद्विचारो को व्यक्त करने के लिए विचारो की प्रणाली थी, जिसके सम्बन्ध मे क्षण-

भन के लिए भी दृढ़तापूर्वक कुछ नही कहा जा सकता; उन्होंने उस सत्य का रसास्वादन किया तथा उसका अग्रगामी बनकर कही, किसी ओर चल पड़े ओर जिस मंजिल तक उस सत्य ने मुझे अन्तर्भूत किया, मै उनकी शिष्या बन गई।"[1]

ओर, इसके बाद जब जनवरी सन् १८९७ ई० में स्वामी विवेकानन्द भारत लौट आए, तब भगिनी ने पूरी तत्परता के साथ इगलैंड मे वेदान्त-दर्शन एव भारतीय सस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। किन्तु, लगभग एक वर्ष के बाद उनके मन मे भारत-भ्रमण की उत्कट अभिलाषा जागृत हुई, ओर उन्होने एक मासूम पुत्री की तरह स्वामी विवेकानन्द के साथ पत्राचार करना प्रारम्भ कर दिया। अपने आज्ञा-पत्र में स्वामीजी ने लिखा था—

"मुझे अब पूर्ण विश्वास है कि भारत का उत्तरदायित्व सम्भालने के लिए तुम्हारे सामने स्वर्णमय भविष्य है। जिस चीज की यहां अतिशय आवश्यकता थी, वह पुरुष नही, नारी थी, एक सच्ची सिंहनी (साहसी हृदय की नारी) जो भारतवासियों के लिए और खासकर यहाँ की स्त्रियो के लिए कार्य करे।"

इस प्रकार २८ जनवरी सन् १८९८ ई० को प्रातः १० बजे भगिनी निवेदिता ने भारत की पुण्य-भूमि का दर्शन किया।

संघर्षपूर्ण जीवन—

एक दिन वार्तालाप के सिलसिले मे भगिनी निवेदिता ने स्वामी विवेकानन्द से पूछा—'मै किस प्रकार भारत की सेवा अच्छी तरह कर सकती हूँ।' स्वामीजी ने उत्तर दिया—'भारत से प्रेम करो।' किन्तु भारत से प्रेम करने के लिए पहले भारत

---

१. परमेश्वरीप्रसाद सिंह—राष्ट्र विभूति : भगिनी निवेदिता (द्वितीय संस्करण) पृ० ८६

को पहचानना होगा —ऐसा सोचकर भगिनी ने भारतीय सस्कृति, सभ्यता, धर्म एव इतिहास आदि विषयो का विधिवत अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया। अब फिर अध्ययन, चिन्तन और मनन ही उनका खास विषय बन गया।

उस समय रामकृष्ण आश्रम मे श्रीमती बुल नामक एक विधवा रहा करती थी, जिन्हे स्वामीजी 'धीर-माता' कहकर सम्बोधित करते थे। चूँकि भगिनी उनके साथ काफी घुल-मिल गई थी, अत वे उन्ही के साथ रहकर आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगी।

२५ मार्च सन् १८९८ ई० को भगिनी ने अपने श्री गुरुदेव, श्री स्वामी विवेकानन्द के चरणकमलो मे आत्मसमर्पण किया, उसी दिन वे एलिजाबेथ मार्गरेट नोबुल (भगिनी के बचपन का मौलिक नाम) से भगिनी निवेदिता (सिस्टर निवेदिता) कहलाई; और उसी दिन से 'शिवोपासना', 'आजन्म ब्रह्मचर्य-पालन' एव 'मानव-सेवा' का दृढ सकल्प लेकर भारत एव भारतवासियो के चतुर्दिक विकास मे तन-तन-धन से तल्लीन हो गई।

सर्वप्रथम उन्होने कलकत्ते के बोसपाडा लेन मे एक बालिका विद्यालय की स्थापना की, तदुपरान्त विद्यालय का खर्च जुटाने के लिए देश-विदेश का दौरा किया, फिर भारत के धार्मिक, सास्कृतिक एव राजनीतिक पुनर्जागरण के लिए उस महान् आत्मा ने भारत, इगलैड एव अमेरिका के कोने-कोने मे जाकर भारतीय कला, भारतीय नारी का आदर्श, राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, ध्रुव, प्रह्लाद एव स्वामी विवकानन्द आदि के जीवन-दर्शन, भारत में आध्यात्मिक जीवन, राष्ट्रीय एकता की मूल-भूत समस्याएं, राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या और उसका समाधान, आधुनिक विज्ञान मे भारत का मस्तिष्क आदि विविध विषयो पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान दिया तथा विश्व के अधिकांश

प्रबुद्ध मनीषियो का ध्यान गुलाम भारत के अनुपम आदर्शों की ओर सिर्फ आकृष्ट ही नहीं किया, बल्कि उन पर नये ढंग से अनुशीलन करने के लिए उन्हे बाध्य भी किया।

भारत मे शैक्षणिक प्रयोग—

सर्वप्रथम भगिनी निवेदिता ने १६ नवम्बर सन् १८९८ ई० को कलकत्ता के बोसपाडा लेन में एक बालिका विद्यालय की स्थापना की। चूँकि उस समय बालिकाओ को उनके घर से बुलाकर लाना पडता था और पुन: छुट्टी के बाद सबो को अपने-अपने घर पहुँचाना पड़ता था, अत: भगिनी ने एक दाई को भी नियुक्त किया। पढ़ाने-लिखाने के साथ-साथ छात्राओं को सिलाई, पेंटिग एव सगीत आदि की भी शिक्षा दी जाने लगी। समय-समय पर भगिनी के द्वारा विविध विषयों पर (यथा—शिक्षा और धर्म, ब्रह्मचर्य और जीवन, बोटनी और ड्राइग, फिजिआलोजी और सिविग, भारतीय नारी के आदर्श आदि) प्रवचन भी दिये जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि थोडे ही दिनों में उक्त विद्यालय की ख्याति सम्पूर्ण भारत मे फैल गई और दूर-दूर से लोग भगिनी के आदर्श विद्यालय का निरीक्षण करने के लिए आने लगे।

स्वामी विवेकानन्द की सलाह के अनुसार बेलूर मठ में ही एक कुटीर उद्योग की स्थापना की गई, जिसमे 'आम के जाम' और 'बगाली चटनी' के निर्माण को सबसे अधिक प्रमुखता दी गई। प्रारम्भ मे तो इस उद्योग से विद्यालय की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे भी काफी सहयोग मिल जाया करता था, किन्तु जब धीरे-धीरे छात्राओ की सख्या मे वृद्धि होने लगी, और बड़े पैमाने पर शैक्षणिक साधनो की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, तब भगिनी को भीषण आर्थिक सकटों का मुकाबला

करना पडा। जब अथक प्रयास करने के बाद भी विद्यालय की आर्थिक स्थिति मे सुधार नही हुआ, तब भगिनी ने विद्यालय का कार्य-भार सुधीर बहन (उस समय की एक प्रमुख समाज-सेविका) के हाथो में सौप दिया, और स्वय इगलैड एव अमेरिका आदि देशो मे हिन्दू-धर्म, वेदान्त-दर्शन, भारतीय सस्कृति की विशेषताएँ आदि विविध विषयो पर व्याख्यान देने के लिए प्रस्थान कर दिया। स्मरणीय है कि इसी सिलसिले मे उन्होंने अपने विद्यालय सचालन के लिए भी काफी धन-राशि एकत्र करली, और लगभग दो वर्षो के बाद पुनः सन् १६०२ ई० मे वे भारत लौटकर अपने शैक्षणिक प्रयोगो मे तन-मन-धन से तल्लीन हो गईं।

इस बार इन्हे कुमारी क्रिश्चिआइन ग्रीन स्टीड नामक एक जर्मन महिला (जो स्वामी विवेकानन्द की शिष्या थी), सुधीर बहन एव पुष्पादेवी आदि प्रमुख समाज-सेविकाओ के द्वारा काफी सहयोग मिला, अत. उन्होने अपने विद्या-मदिर मे अनेकानेक नवीनतम प्रयोग भी किए, यथा—बालिका विद्यालय मे ही एक महिला विद्यालय की स्थापना की गई जिसमे महिलाओ की सुविधा को देखते हुए उनके पठन-पाठन का समय १२ बजे से ४ बजे दिन तक निर्धारित किया गया, वही पर एक बाल-शिक्षा-गृह की भी स्थापना की गई, जिसके सम्बन्ध मे भगिनी ने यह योजना प्रस्तावित की, कि छ माह तक बालको को शिक्षा-दीक्षा दी जाएगी, और छ माह तक वे भारत के विभिन्न क्षेत्रो का भ्रमण करेगे। यहाँ यह भी जान लिया जाए कि प्रथम वर्ष स्वामी सदानन्दजी कुछ लडको के साथ (जिनमे विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के सुपुत्र श्री रतीन्द्रनाथ भी एक छात्र थे) पिण्डारी एव ग्वालियर की यात्रा पर गए भी और दूसरे वर्ष के लिए भी योजना बनाई जाने लगी, किन्तु पैसे के अभाव मे भगिनी

को इस राष्ट्रीय शिक्षा-प्रयोग की योजना को भी ठप कर देना पडा।

इसी बीच कुमारी क्रिश्चिआइन, सुधीर बहन एव पुष्पादेवी आदि भी अपने-अपने व्यक्तिगत एव पारिवारिक जीवन मे उलझ गई और विद्यालय का सारा भार भगिनी को अकेले ही वहन करना पडा। फिर भी, उस महान् आत्मा ने विद्यालय के शासन-सचालन एव अध्ययन-अध्यापन में किसी तरह का व्यवधान उपस्थित नही होने दिया। इस प्रकार दुर्गा-पूजा की छुट्टी का समय भी निकट आ गया, अत विद्यालय को बन्दकर भगिनी भी श्री एव श्रीमती जे० सी० बोस के साथ स्वास्थ्य-सुधार के लिए दार्जिलिंग चली गई। किन्तु विधि के विधान को कौन जानता है! वहाँ जाने के बाद भी उनके स्वास्थ्य मे किसी तरह का सुधार नही हुआ और रक्तातिसार से अतिशय पीडित हो जाने के कारण १३ अक्तूबर सन् १९११ को उस महान् आत्मा ने निर्ममतापूर्वक इस लौकिक जगत् से अपना दैहिक नाता तोड लिया।

आज भी हिमालय की गोदी में, चिरन्तन शान्त-निद्रा मे निमग्न राष्ट्र-विभूति भगिनी निवेदिता की समाधि पर खड़ा स्मारक यह घोषणा कर रहा है :—"यही पर भगिनी निवेदिता चिर शान्ति मे निमग्न है, जिसने अपना सर्वस्व भारत को दे दिया।"

जीवन-दर्शन—

भगिनी निवेदिता का जीवन-दर्शन मूलत: वेदान्त-दर्शन पर आश्रित है। अन्य अद्वैतवादियो की तरह वे भी ईश्वर को वेदो के श्रुत रूप को, एवं सृष्टि-चक्र को मानती थी। उनका कहना था कि आत्मा सत्य है जो अनेक रूपों में प्रतिभासित

होती है। वे प्रकृति और पुरुष मे कोई अन्तर नही मानती थी। उनका कहना था कि सारा विश्व एक है और एक ही सत् नाना रूपो मे प्रतिभासित होता है। तात्पर्य यह कि समस्त विश्व ब्रह्म का प्रतिभासिक रूप है, वह (ब्रह्म) विश्व का वास्तविक नही, केवल आभासी उपादान कारण है।

वे खुले शब्दो मे अपने श्री गुरुदेव के विचारो का समर्थन करती थी, कि "अज्ञानवश व्यक्ति जगत् को देखता है, ब्रह्म को नही। जब उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है तब उसके लिए जगत् नही होता। अज्ञान, जिसे माया कहते है, जगत् का कारण है क्योकि इसी के कारण निरपेक्ष अपरिवर्तनशील सत् व्यक्त जगत् के रूप मे प्रतिभासित होता है। माया शून्य या असत् नही है। यह सत् भी नही है, क्योकि निरपेक्ष अपरिवर्तनशील तत्व ही एकमात्र सत् है...यह (माया) न तो सत् है, न असत् है। वेदान्त मे इसे अनिर्वचनीय कहते है। यही जगत् का यथार्थ कारण है। ब्रह्म उपादान कारण है, और माया नाम-रूप का कारण है। ब्रह्म नाना रूपो मे परिवर्तित जैसा प्रतिभासित होता है...व्यक्ति-सीमित जीवात्मा के कारण मै अपने को अन्य वस्तुओ से भिन्न समझता हूँ। अतः यही घृणा, ईर्ष्या, दु ख, सघर्ष आदि अनिष्टो का कारण है। इसके परिहार से सभी सघर्ष, सभी दुःख समाप्त हो जाते है ..।"[1]

अत भगिनी ने मानव-सेवा को ही सारी उपासना का सार बताया है। उनका कहना था कि जाति, धर्म एवं विभिन्न सम्प्रदायो के विचारो को छोडकर पवित्र बनो, अपने-आपको पहचानो, जगत् के अणु-अणु मे ब्रह्म के स्वरूप का दर्शन करो और दूसरो की भलाई के लिए अपने दुर्लभ मानव-जीवन का

---

१ स्वामी विवेकानन्द—वेदान्त-दर्शन, पृष्ठ ६

उत्सर्ग करो, यही तुम्हारा वास्तविक धर्म है और यही है उस परमपिता परमेश्वर की वास्तविक आराधना।

शिक्षा-दर्शन—

भगिनी निवेदिता का शिक्षा-दर्शन मूलत. उनके जीवन-पर आधारित है। स्वामी विवेकानन्द की तरह उनका भी यही कहना था कि "शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता का प्रकाश है।" अतः जब तक प्रकाश की समुचित व्यवस्था नही की जाती, तब तक मनुष्य का चतुर्दिक विकास भी नहीं हो सकता। वे कर्म के माध्यम से विद्यार्थियो को शिक्षा देना चाहती थी। उनका कहना था कि सिर्फ सैद्धान्तिक शिक्षा से बच्चों की मानसिक स्वतन्त्रता विनष्ट हो जाती है और आगे चलकर उनके विचार भी कुण्ठित हो जाते है। अत. शिक्षा का सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से होना चाहिए।"

भगिनी के शिक्षा-सिद्धान्तो पर पेस्टालॉजी एव फ्रोबेल के शिक्षा-दर्शन का काफी प्रभाव पड़ा था। अत' उन्ही की तरह इन्होने भी बच्चो की शक्तियो के स्वाभाविक विकास को अत्यधिक महत्व प्रदान किया। पेस्टालॉजी ने 'अभ्यास' को अन्तर्निहित शक्ति के विकास का आधार माना था और फ्रोबेल ने 'आत्मक्रिया' को, किन्तु भगिनी ने आवश्यकतानुसार दोनों को प्रश्रय दिया। यही कारण था कि जब इगलैंड मे उन्होंने स्वतंत्र रूप से एक प्रयोगात्मक विद्यालय की स्थापना की और खेलकूद एवं अभ्यास के सहारे छोटे-छोटे बच्चा को विभिन्न विषयो में सफलतापूर्वक प्रशिक्षित किया, तब वहाँ के बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्री भी आनन्दातिरेक से उनका गुणगान करने लगे।

उनके अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी समाज का एक आवश्यक अग है, अतः सामाजिक वातावरण में ही उसकी शिक्षा-दीक्षा

का प्रबन्ध होना चाहिए। वे शिक्षा को बालकों के सर्वांगीण विकास का साधन मानती थी। उनका कहना था कि जिस शिक्षा से विद्यार्थियो का शारीरिक, मानसिक, नैतिक एव सामाजिक विकास न हो, उसे शिक्षा की उपाधि नही मिलनी चाहिए। भगिनी ने दण्ड-विधान का भी काफी विरोध किया था। उनके अनुसार दण्ड या दबाव से विद्यार्थियो मे भय उत्पन्न होता है, जो उनके स्वाभाविक विकास का सबसे बडा शत्रु है। अत. विद्यालय का वातावरण ही ऐसा बनाया जाए कि विद्यार्थियो को स्वत. ही अनुशासन-विधान का पालन करना पडे।

जहाँ तक पाठ्यक्रम का सम्बन्ध है, भगिनी ने अपने विद्यालय के पाठ्यक्रम मे भाषा, गणित, भूगोल, ड्राइग एव बागवानी आदि तमाम महत्वपूर्ण विषयो को स्थान दिया था।

वे सेक्यूलर एजूकेशन के पक्ष में थी। उनका कहना था कि स्त्री और पुरुष—दोनो के लिए शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। आत्मा का कोई 'सेक्स' (Sex) नही होता, स्त्री और पुरुष दोनो के अन्दर एक ही आत्मा विराजमान है। अत. दोनो को ही आत्मिक विकास का समुचित अवसर मिलना चाहिए। यहाँ यह भी जान लिया जाए कि भगिनो ने बालिकाओ के लिए सिलाई पेटिग एव सगीत आदि विषयो की व्यवस्था अलग से करने की सलाह दी थी। साथ ही नारी के लिए 'मानवत्व' शब्द पर जोर देते हुए उन्होने कहा था, "'पत्नीत्व' से पहले नारीत्व और नारीत्व से पहले मानवत्व, ऐसी वस्तुएँ है, जहाँ पर प्रत्येक युग मे बालिकाओ की शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए।"[1] (Womanhood before wifehood and humanity

---

1. Hints on National Education in India—By Sister Nivedita, p 60.

beforewomanhood is somethings at which the education of the girl must aim in every age)

वे शिक्षा को आत्म-निर्भर बनाना चाहती थी। कारण, जब तक शिक्षा मे आत्म-निर्भरता नही आ जाती, तब तक न तो विद्यार्थियो का स्वाभाविक विकास ही हो सकता है और न राष्ट्रीय संस्कृति के अनुकूल शाश्वत शक्ति ही अर्जित की जा सकती है। शिक्षा की राष्ट्रीय समस्या की ओर संकेत करते हुए उन्होने कहा भी था—"शिक्षा की समस्या एक राष्ट्रीय समस्या है और इसके लिए तुम्हारे जीवन का एक अशिक्षित व्यक्ति किसी भी प्रकार से तुम्हारी आवश्यकताओ मे अपना योगदान नही दे सकता। हाँ, एक विदेशी ऐसा कर सकता है, यदि वह राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ आदर्श के अनुरूप समय के महात्म्य को ध्यान मे रखते हुए कार्य करता है। किन्तु वह ऐसा कभी नही कर सकता, अत. तुम्हे अपनी मदद,आप करनी होगी।"

देशप्रेम तथा राष्ट्रीय एकता के प्रति विद्यार्थियो को जागरूक रखने के लिए भगिनी ने पर्यटन को आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है—"देश की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए, गरीबो के दु ख को सूक्ष्म रूप से जानने के लिए एवं बालको के हृदय मे राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने के लिए भारत के कोने-कोने मे उनका भ्रमण करना आवश्यक है।"

जहाँ तक भाषा एवं लिपि का सम्बन्ध है, भगिनी ने सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक भाषा (राष्ट्रभाषा) और एक ही लिपि को आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध में उनका सुझाव है—"यदि भारत की जनता एक ही भाषा का प्रयोग करती है, एक ही तरह से अपने भावों को अभिव्यक्त करती है, एक ही आदर्श पर चिन्तन की भूख मिटाती है, एक ही शक्ति के सहारे उसे सुरक्षित

किया जाता है, तो हमारी एकता स्वत मजबूत हो जाएगी बिहार, बगाल, उडीसा आदि सबो को एक ही लिपि का इस्तेमाल करना चाहिए इस प्रकार अल्प शक्ति और साधन से ही हम राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने मे सक्षम सिद्ध हो सकते है।"[1]

प्रश्न उठता है, जन्म से विदेशी और कर्म से भारतीय, उस महान् आत्मा के इस महत्वपूर्ण सुझाव से उत्प्रेरित होकर भी हम 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' और 'देवनागरी लिपि' को मन, वचन और कर्म से अमल मे नही ला सकते ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर प्रत्येक भारतवासी को, जो विशेषकर जन्म और कर्म दोनो से भारतीय है, ईमानदारीपूर्वक विचार करना चाहिए।

राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण से सम्बन्धित अन्य बहुमूल्य सदेश—

१ **भारत-प्रेम**—"मै भारत को प्रेम करती हूँ, क्योकि यह सभी धर्मो का सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम जन्म-स्थान है, यही सबसे ऊँचा हिमालय पर्वत है—क्योकि, यह वह देश है जहाँ निवास करने के लिए साधारण गृह है, जहाँ घरेलू सुख और आनन्द अधिकतम मात्रा मे पाये जाते है और जहाँ की स्त्रियाँ स्वार्थहीन होकर विनीत भाव से प्रसन्नतापूर्वक अपने अविभक्त एक की सेवा-सुश्रुषा प्रात काल से लेकर ओस की भीगी संध्या तक करती है।"

२. **राष्ट्रीय एकता**—(क) "एकता अतीत की वस्तु नही है, वह तो यथार्थ और जीवन्त है अर्थात् वर्तमान की वस्तु है, केवल इस भूमि की सन्तान उसके प्रति जागरूक नही है।"

---

1 Hints on National Education In India—By Sister Nivedita, p-3.

(ख) "एकता का निर्माण राष्ट्र का नागरिक स्वयं करता है। कोई विदेशी उसे एकता का सबक नहीं सिखला सकता··· यदि भारत में स्वतः एकता नहीं है, तो वह बाहर से नहीं दी जा सकती।"

(ग) "राष्ट्र का कल्याण ही तुम्हारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। सोचो कि सम्पूर्ण देश तुम्हारा अपना देश है और देश को तुम्हारे कर्तव्य की आवश्यकता है।"

३. राजनीतिक आन्दोलन का उद्देश्य—(क) "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' नामक लेख में उन्होंने एक बार लिखा था—"वस्तुतः इस समय तरुण भारतीयों को यह सोचना है कि उनका आन्दोलन पक्षपातपूर्ण राजनीति का बिल्कुल नहीं; बल्कि राष्ट्रीय है, अर्थात् एक होकर आगे बढ़ना है।"

(ख) "धर्म के मामले में भारत को पश्चिम से कुछ लेना नहीं, बल्कि कुछ देना है। सामाजिक क्षेत्र में भी अब भारत को सोचना है और आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी लाना है। इसमें कतई सन्देह नहीं कि भारतवासियों में अपने-आपको सम्भालने की भरपूर योग्यता है। किसी भी विदेशी को भारत के आन्तरिक मामले में सलाह देने और इसके रचनात्मक कार्यों में विघ्न डालने का कोई अधिकार नहीं है। परिवर्तन होगा, अवश्य होगा और मौलिक परिवर्तन होगा, हमें पूर्ण विश्वास है।"

४. भारतवर्ष असमान्य नारियों की भूमि—(क) "भारतवर्ष असमान्य नारियों की भूमि है। जहाँ कहीं हमलोग ध्यान दौड़ाते हैं—चाहे वह इतिहास हो या साहित्य, प्रत्येक क्षेत्र में हमलोग उन आकृतियों से भेंट करते हैं, जिनके पराक्रम को उसने (भारत-माता ने) जन्म दिया और पहचानना और तबसे उनकी यादगारी को सदा-सर्वदा अलौकिक रखती आ रही है।"

(ख) "भारत का भविष्य पुरुष से अधिक नारी पर निर्भर करता है। क्या तुम्हे याद नही है कि तुम्हारी ही माँ और वहनें प्राचीनकाल मे पति के साथ सती हो जाती थी ? क्या वह साहस नही था ? सीता के आदर्श को कौन नही जानता ? क्या तुम उमा और सावित्री को भूल सकती हो ?·· तुम्हे नही भूलना चाहिए कि राम, कृष्ण और शकराचार्य अपनी-अपनी माता के वहुत ऋणी थे। माता ने ही उनका निर्माण किया था। क्या तुम अपनी सन्तान को वसा नही बना सकती हो ? · ऐ हिन्दू माताओ ! अपनी सन्तान को ब्रह्मचर्य का पाठ पढाओ, क्योकि ब्रह्मचर्य मे ही सारी शक्तियाँ निहित हैं। उसके हृदय में दया को भावना उत्पन्न करो ताकि वह देश के गरीवो के दु ख को समझ सके, उनको देखने से उसके हृदय मे दया की भावना उभरे और वह उसके निदान के लिए सक्रिय हो।"

हिन्दू-धर्म के पक्ष में

(ग) "माता की गोदी वच्चो के लिये सर्वोत्तम पाठशाला है। अत· प्रत्येक माता का कर्त्तव्य है कि वह वचपन से ही अपने वच्चो को राष्ट्रभक्ति का ज्ञान कराए।"

(क) "भारत के आध्यात्मिक कोप मे ससार को वाँटने के लिए प्रचुर सम्पत्ति है और यही कारण है कि मैं हार्दिक उत्कठा लेकर इसकी सेवा करने के लिए आई हूँ।"

(ख) "हिन्दू-धर्म एक सकलन है, एक पथ या सप्रदाय नही, यह एक आध्यात्मिक विश्वविद्यालय है, एक आध्यात्मिक गिरिजाघर नही, और वौद्ध-धर्म इस सकलन का अविच्छेद अग है।"

(ग) "वेदान्त-दर्शन का दार्शनिक तो हम लोगो को मार्ग वताकर चला गया, तो क्या वेदान्त की जिन्दगी समाप्त हो

गई ? नहीं, वह तो शाश्वत और चिरन्तन है, वह इसलिए हम सबों को छोड़कर चला गया है कि हम लोग आध्यात्मिक चिन्तन से उस मार्ग को समझे और उस पर चले।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भगिनी निवेदिता दैवी गुणो से विभूषित एक आदर्श नारी थी। दया, क्षमा, सरलता, सत्य-धर्म के प्रति निष्ठा एव स्वतत्र प्रकृति आदि उनके चरित्र की खास विशेषताएँ थी। यदि धर्म के क्षेत्र में वे निष्काम कर्म-योग को मानने वाली सन्यासिनी थी, तो शिक्षा के क्षेत्र मे व्याव-हारिक और मनोनुकूल शिक्षा को प्रश्रय देने वाली कुशल शिक्षिका, और यदि राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उनका प्रमुख नारा था—'राष्ट्र-निर्माण' तो विश्व राजनीति के क्षेत्र में उनका प्रमुख नारा था—'मनुष्य-निर्माण' यदि एशिया को उन्होने 'धर्म की जननी' कहकर सम्बोधित किया, तो हिन्दू-धम को आध्या-त्मिक विश्वविद्यालय, और अन्त मे सम्पूर्ण मानव-जाति को 'माँ' की सन्तान कहकर सम्बोधित करने वाली वह महान् विभूति स्वय सम्पूर्ण सृष्टि की माँ बन गई।

●

२ रवीन्द्रनाथ टैगोर

अपनी संस्कृति के प्रति असीम श्रद्धा रखते हुए, विश्व-कल्याण का मार्ग वही व्यक्ति प्रशस्त कर सकता है, जो विश्वात्मा का विशेष अश लेकर इस धराधाम पर अवतरित हुआ हो। वैसे विश्व-कल्याणकारी महान् आत्मा की प्रतिभा को, जो अखिलेश्वर सृष्टि के लिए 'आलोक' की याचना करता है, शब्दों की संकुचित सीमा में नही बाँधा जा सकता। वह सृष्टि के कण-कण से परिचित रहता है, जीवात्मा के जीवन का कोई भी क्षेत्र उससे अछूता नही रह सकता। वह सबका बन जाता है, और सब उसका।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर भी ऐसी ही अमर विभूतियों में से एक थे। भारतमाता की गोद मे उस अनमोल पुष्प का अभ्युदय हुआ, किन्तु अपने आचरण की पवित्रता एव दिव्य सदेश के सहारे उसने सम्पूर्ण विश्व को सुगन्धित कर दिया, वह सबों का कंठहार बन गया, सब उसके बन गए और वह सब का बन गया।

प्रभु से उनकी प्रार्थना सुनिए—'मेरे प्रभु, मेरी यही प्रार्थना है कि मेरे मन की क्षुद्रता के मूल पर आघात करो। अपने जीवन के सुख-दुःख को सरलता से सहन करने की शक्ति दो। सेवा-भाव में मेरे प्रेम को सफल होने का बल दो। दीन-दुखियों को सदैव अपनाने और धृष्टता के आगे कभी न झुकने का साहस दो। दिन प्रतिदिन की क्षुद्रताओं से मन को ऊँचा उठाए रखने की शक्ति दो और मुझे बल दो कि मैं अपनी शक्ति को तुम्हारी इच्छाओं के आगे सप्रेम समर्पित कर दूँ।'

जन्म, बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा—

इनका जन्म ६ मई, सन् १८६१ ई० को कलकत्ता में हुआ था। ये अपने सात भाइयों में सबसे छोटे थे। इनके पिताजी का नाम महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर था। उनकी अध्यात्म-साधना, धर्म-परायणता एवं दार्शनिकता के कारण ही लोग उन्हें 'महर्षि' कहकर सम्बोधित करते थे। उनके परिवार का वातावरण साहित्यिक एवं कलात्मक था। अतः उस साहित्यिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव शिशु रवीन्द्र पर पड़ना भी स्वाभाविक ही था।

यद्यपि महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर घर के काफी सम्पन्न थे, तथापि बालक रवीन्द्र का लालन-पालन एक साधारण बालक की तरह ही हुआ। अक्सर इन्हें अपने नौकरों की देख-रेख में ही रहना पड़ता था। कभी-कभी तो इन्हें उनकी घुड़की भी सहनी पड़ती थी। इसका हास्यपूर्ण संकेत इन्होंने अपने स्मृति-ग्रन्थ में भी किया है।

जब ये पाठशाला जाने के लायक हुए, तब इनका नाम, 'बंगाल एकेडमी' में लिखाया गया, किन्तु वहाँ के वातावरण

का प्रभाव इन पर अच्छा नही पडा । इन्होने महसूस किया, कि विद्यालय का वातावरण पवित्र नही है, बालको की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को स्वानुभूति के आधार पर विकसित होने का मौका नही दिया जाता है, विद्यालय मे खेल-कूद का भी अच्छा प्रवन्ध नही है, साथ ही छोटी-छोटी भूलो के लिए भी बालको की देह पर पशुओ की तरह डडे का प्रहार किया जाता है । तत्कालीन विद्यालयो के सम्बन्ध में उन्होने लिखा भी है—"उसके कमरे निर्मम, और दीवारे प्रहरी-सी लगती थी ; उसमें घर के लक्षण कुछ भी नही थे । ऐसा लगता था जैसे बहुत से खानो वाला सन्दूक हो, कही कोई सजावट नही और न लडको के हृदय को आकर्षित करने की कोई कोशिश ही वहाँ होती थी ।"

इस प्रकार बालक रवीन्द्र ने स्कूल मे पढने जाने से इन्कार कर दिया । इसके बाद उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रवन्ध घर ही पर किया गया, और शनैः शनैः भाषा, विज्ञान, कला एवं सस्कृति आदि सभी विषयो पर उनका अधिकार हो गया ।

बचपन से ही उनकी कल्पना-दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म थी । प्राकृतिक सौदर्य को देखकर वे मन-ही-मन अतिशय प्रसन्नता का अनुभव करते थे । एक बार कलकत्ते मे प्लेग की बीमारी फैली, फलतः उन्हे शहर से बाहर नदी के किनारे स्थित एक खूबसूरत महल मे रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । वहाँ के प्राकृतिक सौदर्य का स्मरण करते हुए उन्होने लिखा भी है—"गगाजी मे प्रति-दिन ज्वार-भाटा होता, नाना प्रकार की भिन्न-भिन्न भावनाओं की विभिन्न गतियाँ देखने में आती है । पेड़ो की परछाइयाँ सर-कती हुई पूरब से पश्चिम चली आती है । किसी-किसी दिन तो प्रात.काल से आकाश ही मेघाच्छादित रहता है, सामने से जगल काले दिखाई पड़ते हैं, उनकी परछाइयाँ खिसकती हुई नदी पर

जा पडती है। तत्पश्चात् शोर मचाती हुई वर्षा आकर क्षितिज को आँखों से ओझल कर देती है, दूसरी ओर नदी तक की धुँधली रेखा आँसू बहाती हुई विदा हो जाती है।"

बालक रवीन्द्र को अपने पिता के साथ यात्रा करने में भी बड़े आनन्द का अनुभव होता था। कारण, महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर नौका-यात्रा को काफी पसन्द करते थे, और अक्सर वे पर्वतीय सौंदर्य का अवलोकन करने भी जाया करते थे। एक बार इन्हे अपने पिताजी के साथ बोलपुर एव हिमालय के पहाड़ों पर जाने का मौका मिला। कहते हैं, बोलपुर के जगलों में इन्होंने एक विशेष प्रकार के शान्तिपूर्ण सौंदर्य का अनुभव किया, और उसकी विश्रान्त मनोहरता से मुग्ध होकर वही पर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी करने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे इनकी कल्पना-शक्ति एवं इनका प्रकृति-प्रेम और अधिक विकसित होता गया और इन्होने अध्ययन, चिन्तन, मनन एवं लेखन को ही आत्मोन्नयन का आधार बनाया। स्मरणीय है कि सन् १८८१ ई० के बाद से ही इनकी कविताएँ 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित होने लगी थी।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सन् १८७८ ई० में अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने के लिए वे इंगलैंड भेजे गए और वहाँ से लौटने के बाद कुमारी मृणालिनी के साथ उनका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। किन्तु अधिक दिनो तक उन्हें अपने हरे-भरे परिवार का साहचर्य नहीं मिल सका। कारण, सन् १९०२ ई० से सन् १९०७ ई० तक के बीच यानी पाँच वर्षों के अन्दर ही इनकी पत्नी, पुत्री, पुत्र एवं पिता, सब-के-सब इस संसार-सागर से विदा हो गये। भाग्य के इस भीषण कुठाराघात से उस महान् आत्मा को काफी चोट पहुँची और यहीं से उनकी जिन्दगी

का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। अब सारे ससार को वे अपना परिवार समझने लगे।

चूँकि उस समय भारत पराधीन था, और श्रद्धेय रवीन्द्र को भी अपनी मातृभूमि की पराधीनता पसन्द नही थी, अतः उन्होने जी खोलकर राजनीति मे भी भाग लिया। स्मरणीय है कि जालियाँवाला वाग के हत्याकाण्ड की सूचना मिलते ही उन्होने ब्रिटिश सरकार प्रदत्त 'सर' की उपाधि का परित्याग कर दिया था और गाँधीजी का अनुयायी बनकर उनके सत्य-अहिंसा-आन्दोलन में खुलकर सहयोग प्रदान किया था।

शान्तिनिकेतन एवं विश्वभारती

'शान्तिनिकेतन' एव 'विश्वभारती' विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षणिक प्रयोगों के अभूतपूर्व परिणाम है। यह भारतवर्ष के बगाल प्रान्त में बोलपुर से लगभग दो मील की दूरी पर स्थित है। इसकी स्थापना सर्वप्रथम महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ने 'शान्तिनिकेतन आश्रम' के रूप मे की थी। किन्तु, कुछ दिनो के बाद, यानी सन् १९०१ ई० मे श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने शैक्षणिक सिद्धान्तो को प्रयोगात्मक रूप प्रदान करने के लिए वही पर 'शान्तिनिकेतन' नामक विद्यालय की स्थापना की, जिसमें सिर्फ पाँच ही विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। कालक्रमानुसार उस विद्यालय की दिन दूनो रात चौगुनी प्रगति होने लगी, और उसके दर्शनार्थ विश्व के विभिन्न भागो से विभिन्न विषयो के विद्वानों का शुभागमन होने लगा।

शान्तिनिकेतन का वातावरण, वहाँ के विद्यार्थियो का रहन-सहन एव शिक्षा-दीक्षा की प्रक्रियाएँ अन्य विद्यालयो से बिल्कुल भिन्न है। वहाँ की सबसे वडी विशेपता यह है कि विद्यार्थी एवं अध्यापक परिवारिक सदस्यो के रूप मे जीवन-यापन करते है।

प्रातःकाल चार बजे बिछावन छोड़ना, नित्यक्रिया से निवृत होने के बाद कमरे, कपड़े एव अंगो की सफाई करना, फिर ईश-चिन्तन, जलपान एवं विविध विषयों का अध्ययन—मध्याह्न के के भोजन के बाद थोड़ा विश्राम, फिर दो बजे से विविध विषयों का अध्ययन प्रारम्भ—खेल-कूद, नृत्य-संगीत, बागवानी आदि का प्रशिक्षण। सन्ध्या को पुनः ईशचिन्तन एव कहानी, कविता, नाटक तथा व्याख्यान का अभ्यास आदि।

वहाँ के विद्यार्थियो को अध्यापको की ओर से किसी तरह का दण्ड भी नही दिया जाता। विद्यार्थियों के द्वारा ही न्यायालय की स्थापना की जाती है, वरिष्ठ विद्यार्थी उसके जज बनते है और अपराध की प्रकृति के अनुसार अपराधियों को साधारण ढंग से ही दण्डित किया जाता है। जहाँ तक अध्ययन-अध्यापन का प्रश्न है, खुले आकाश की छाया में प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच बैठकर वहाँ के विद्यार्थी विद्याध्ययन करते हैं। तात्पर्य यह है कि 'शान्तिनिकेतन' के विद्यार्थियो को अपने हृदय, हाथ एव मस्तिष्क को अच्छी तरह विकसित करने का शुभ अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसा वातावरण बनाया जाता है कि विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास हो सके, भारतीय सस्कृति के प्रति उनके हृदय मे असीम श्रद्धा की भावना जगे और अन्ततः विश्वकल्याण के लिए वे अपने आपको विश्व का एक योग्य नागरिक बना सके।

जहाँ तक विश्वभारती का प्रश्न है, इसकी स्थापना एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप मे २२ दिसम्बर सन् १६१८ ई० को हुई। इसके विभिन्न विभाग हैं; यथा—हिन्दी-भवन, शिल्प-भवन, शिक्षा-भवन, संगीत-भवन, चीनी-भवन, पाठ-भवन, एवं ग्राम-पुनर्निर्माण विभाग आदि। प्रत्येक विभाग का कार्यक्रम एक-दूसरे से पृथक है। इसमें संसार-भर के विद्यार्थी एवं विद्वान शिक्षा-ग्रहण करने एवं विविध विषयों पर शोधकार्य

करने के लिए आते है। विश्वभारती का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को प्रकृति-प्रेम, मानवतावाद एव विश्वसमन्वय की शिक्षा प्रदान करना है।

इस प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शान्तिनिकेतन एवं विश्वभारती की स्थापना की, अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'गीतां जलि' पर नोबल पुरस्कार प्राप्त किया और निम्नलिखित प्रमुख पुस्तको का प्रणयन कर ७ अगस्त सन् १९४१ को इस ससार-सागर से विदा हो गये।

'साध्यगीत'; 'प्रभातगीत'; 'मानसी', 'सोनार तरी', 'त्याग'; 'मालिनी'; 'कल्पना-सिन्धु', 'गीताजलि'; 'मुक्तिधारा', आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ है।

आज भी, जब हम अपने कवीन्द्र द्वारा रचित राष्ट्रीयगान (जन-गण-मन अधिनायक जय हे!) का गान करते है, तब उनके चतुर्दिक योगदान का स्मरण हो आता है और हम अपने भारत की गौरव-गरिमा की याद कर अतिशय आनन्द का अनुभव करने लगते है।

जीवन-दर्शन—

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर 'अहम् ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) के उपासक थे। अतः वे एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे। उनका ब्रह्म सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त है। उनका कहना था कि मनुष्य की पूजा ही ईश्वर की पूजा है। यही कारण है कि उन्होने अपने साहित्य मे भी विश्व-बन्धुत्व की भावना को अत्य-धिक महत्व प्रदान किया है। 'मानवतावाद का पोषक' होने के कारण ही उन्होने ऊँच-नीच, धनी-गरीब एवं हिन्दू-मुस्लिम जैसे सकुचित भेद-भावपूर्ण मनोवृत्ति का विरोध किया है। वे दीन-दुखियो में ही अपने प्रभु का दर्शन करते थे। अपनी प्रसिद्ध

रचना 'गीतांजलि' में उन्होने अपने परमप्रभु से प्रार्थना भी की है :—

"तुम्हारे चरण वहाँ विराजते है, जहाँ दीनातिदीन, निम्नतम और वे व्यक्ति रहते हैं जिनका सब कुछ लुट गया है। मैं जब तुम्हे प्रणाम करने का प्रयत्न करता हूँ, तो मेरा प्रणाम उस गहराई तक नही पहुँचता, जहाँ दीनातिदीन, निम्नतम और सर्वहारा लोगो में तुम्हारे चरण विराजते है। अहंकार तो उस स्थान की सीमा पर भी नही पहुँच सकता, जहाँ तुम भूषण-रहित दीन-दरिद्र वेश मे सबसे पिछडे, सबसे नीचे, उन लोगो के बीच घूमते हो जिनका सब कुछ लुट गया है...।"

वे आदर्शवादी भी थे, क्योकि आदर्शवादियों की तरह उन्होने सत्य, शिवं एव सुन्दरम् को ही मानव-जीवन का मूलभूत सिद्धान्त माना है। सत्य ईश्वर है और जीवन ईश्वर की लीला। वह परम सत्य सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। वही सत्य हमारे साथी की तरह निरन्तर हमारे साथ खेलता रहता है। उस परम ब्रह्म के स्पर्श से ही मनुष्य मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो सकता है। अपने परम प्रभु से वार्त्तालाप करने के सिलसिले में वे कहते हैं—
"बाँस की इस क्षुद्र वंशी को तुम पर्वत और घाटियो में लिए फिरते हो और इसमे नित-नूतन सगीत का संचार करते हो। तुम्हारे अमर स्पर्श से मेरा क्षुद्र हृदय हर्ष में भरकर सीमाएँ तोड़ अमिट गान करने लगता है...।"

वे समाजवाद के समर्थक थे। किन्तु उनका समाजवाद छल-प्रपंच के जाल से सर्वथा मुक्त था। उनकी दृष्टि हमेशा ग्रामों की ओर रहती थी। गाँवों के पुनर्निर्माण के लिए वे जीवन-भर प्रयत्नशील रहे। अपने विचारो को मूर्त रूप देने के लिए ही उन्होने शान्तिनिकेतन में भी ग्रामसुधार-विभाग की स्थापना की। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि भगवान किसान एवं दीन

दुखियों के बीच ही विराजते है। अतः उन्होने गीतांजलि में लिखा भी है :—

"यह सब भजन, पूजन, माला और जप छोड दे। अरे! सब द्वार बन्द किए, देव-मन्दिर के अधेरे कोने मे तू किसको पूज रहा है? आँखे खोलकर देख, देवता तेरे सम्मुख नही है! वे तो वहाँ है जहाँ किसान कडी भूमि भेदकर खेती कर रहा है—जहाँ मजदूर पत्थड फोड़ रहा है। वह धूप और वर्षा मे उनके साथ रहते है और उनके वस्त्र धूलि-धूसरित है। अपना उत्तरीय अलग रख, उनके ही समान धूल-भरी धरती पर आ।

मुक्ति! अरे यह मुक्ति कहाँ है? भगवान् ने स्वय हीं सृष्टि निर्माण का भार सहर्ष स्वीकार किया है, वे तो सदा के लिए हम सबसे बँध गए है।

अपना ध्यान छोड, फूल और धूप अलग रख दे। यदि तेरे वस्त्र धूल-धूसरित और तार-तार हो जाएँ, तो क्या हानि है? उसके साथ एक होकर परिश्रम करते-करते पसीने मे तर हो जा।"

शिक्षा-दर्शन—

'शान्तिनिकेतन' एव 'विश्वभारती' की शैक्षणिक प्रक्रियाओ पर दृष्टि डालने से यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि शिक्षाशास्त्री रवीन्द्रनाथ टैगोर शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियो का सर्वांगीण विकास करना चाहते थे। उनके समस्त शिक्षा-सिद्धान्त विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। उनकी दृष्टि मे "शिक्षा मस्तिष्क को अतिम सत्य को पाने योग्य बनाती है। वह हमे धूल के बन्धन से मुक्ति दिलाती है और हमे वस्तु-निधि अथवा शक्तिनिधि की अपेक्षा आंतरिक ज्योति एव प्रेम

प्रदान करती है, वह सत्य को अपना बनाती है और इसे अभिव्यक्ति देती है।"

प्रकृति की पवित्रता मे उनको अटूट विश्वास था। अतः उन्होने प्रकृतिवाद का भी समर्थन किया है। शिक्षा-जगत् से उनका निवेदन है—'अग्नि, वायु, जल तथा मिट्टी आदि से बने हुए जगत् को ध्यानपूर्वक देखना, उसके महत्व को समझना ही वास्तविक शिक्षा है। यह शिक्षा नगरो के शोभायमान विद्यालयों तथा पाठशालाओं मे पूर्णरूप से नही दी जा सकती क्योंकि वहाँ शिक्षा देने के कारखानो मे हम विश्व को एक प्रकार की कल या मशीन समझना ही सीख सकते है।...उस समय के आने से पूर्व (सासारिकता मे उलझने से पूर्व) उस समय के साथ—जिसकी गोदी में हमारा जन्म हुआ है, पर्याप्त मेल-जोल करले, उससे खूब हिल-मिल जाएँ। माता के दूध की भाँति उससे अमृत-रस चूस लेना चाहिए। और उससे विशालता तथा अभय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। ऐसी क्रिया करने से ही हम सच्चे तथा पूर्ण मनुष्य बन सकते हैं। जिस समय बच्चों का मन कोमल होता है, वह साँचे में ढालने के योग्य होता है। उनमें वासनाओ की अग्नि नहीं भड़की होती। जब उनके आचार सुदृढ तथा अपनी पूर्ण शक्ति में होते है, जब तक ससार की लालसाओ ने उन्हे अपने अधीन नही किया होता है, उस समय उन्हें नीले, स्वच्छ आकाश के नीचे, जहाँ धूप-छाँह परस्पर खेलते रहते है, जी भरकर खेलने दो, शान्ति से उछलने-कूदने दो, उन्हें प्रकृति की गोद से पृथक् न करो, उन्हे इस सुख से वंचित करने की चेष्टा न करो। सुन्दर तथा आकर्षक प्रातः को उनके प्रत्येक नवीन दिवस का द्वार अपनी चमकदार उँगलियो (किरणो) के द्वारा खोलने दो। वृक्ष और बेलों से बने हुए प्रकृति के सुन्दर

मंच पर ऋतुओ के अदल-बदल का नित नया दृश्य उनके सम्मुख होने दो। उन्हे इनका आनन्द उठाने दो। वे झाडियो के नीचे खडे होकर देखे कि नव वर्षा ऋतु शासनारूढ राजकुमार की भाँति अपनी पानी से भरी हुई बादलो की सेना लेकर वन की तपी हुई अतृप्त पृथ्वी पर किस प्रकार वर्षा का आवरण डालती है, और शरद् ऋतु मे पृथ्वी की छाती पर ओस से सीची हुई वायु से लहराती हुई विभिन्न रगो से रँगी हुई खेतो की सुन्दरता को अपनी आँखो से देखकर उन्हे अपना जीवन सफल बनाने दो।"

—रवीन्द्रनाथ टैगोर (शिक्षा—पृ० १६ से उद्धृत)

शिक्षक एव विद्यार्थी मे पिता-पुत्र का सा सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। उनका कहना था कि सभी शिक्षक आश्रम-निवासी हों और विद्यार्थियों को अपने पुत्र की तरह असीम स्नेह दे, उसी तरह विद्यार्थी भी अपने शिक्षको को पिता समझे और उसी रूप में उनके चरणो मे असीम श्रद्धा रखें। दण्ड-विधान एव डडे के प्रहार का विरोध करते हुए उन्होने आत्मानुशासन को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। वे वातावरण को ही पूर्ण अनुशासित बनाने के पक्ष मे थे।

भारतीय शिक्षा-प्रणाली से वे अग्रेजी भाषा का बहिष्कार करना चाहते थे। उनका कहना था कि भारतीय विद्यार्थियो की मानसिक शक्तियो की सबसे बड़ी बाधक अग्रेजी भाषा है। चूँकि आज भी यह एक विवादास्पद विषय बना हुआ है, अत यहाँ पर उन्ही के शब्दो का उल्लेख कर देना मै आवश्यक समझता हूँ ताकि उन सभी बन्धु-बान्धवो को उस महान् आत्मा से सत्प्रेरणा मिले, जो जी खोलकर अग्रेजी का समर्थन कर रहे है :—

"...अंग्रेजी की पढ़ाई में लीन रहने से न तो पढ़ाई हुई, न खेलना हुआ और न प्रकृति के सच्चे तथा वास्तविक साम्राज्य मे प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ! साहित्य का आनन्द उठाने से भी वेचारे वचित रहे। हमारे भीतर तथा बाहर दो विशाल और स्वतन्त्र घूमने-फिरने के मैदान हैं। उन्ही दो मैदानों से हम जीवन-शक्ति तथा स्वास्थ्य का अमूल्य धन प्राप्त करते है। उन्ही स्थानो से भाँति-भाँति के रंग, भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र तथा आकृतियाँ, नाना प्रकार के विचार तथा प्रसन्नताएँ उठ-उठकर हमारी शारीरिक तथा बौद्धिक उन्नति में सहायता देती हैं। परन्तु शोक! हमारे भाग्यहीन बच्चे उन दोनों के मातृ-प्रेम से अलग होकर एक विदेशी बन्दीगृह मे बेड़ियों से जकड़कर रखे जाते है। ईश्वर ने जिनके लिए माता-पिता के मन मे प्रेम की लहरे चला दी है, माता की गोदी को सरस कर दिया है, उन्ही बच्चो को अपनी बाल्यावस्था का अमूल्य समय एक विदेशी भाषा की वर्णमाला तथा शब्दकोष आदि स्मरण करने मे नष्ट करना पड़ता है, जिसमे न जीवन है, न किसी प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। न कोई नई बात है और न इधर-उधर हिलने-डुलने के लिए एक तिल-भर स्थान ही है। वर्णमाला तथा शब्दकोष की इन अत्यन्त सूखी, सड़ी हुई तथा स्वादरहित हड्डियो को चबाते रहने से क्या बच्चो के मन तथा मस्तिष्क उन्नति कर सकते है? क्या उनमें विशेष योग्यता उत्पन्न हो सकती है? और क्या उनका चरित्र निर्मल तथा सुदृढ़ बन सकता है? क्या वे बडे होकर भी अपनी बुद्धि से कोई कार्य कर सकते है? अपनी शक्ति द्वारा अपनी उन्नति मे बाधक होने वाली रुकावटो को दूर कर सकते हैं? क्या वे दुबले-पतले, अस्वस्थ पीले तथा मुर्झाई मुखाकृति वाले डरपोक, साहस

रहित तथा जीते-जी मर जाने से बच सकते है ? कदापि नहीं, वे केवल कंठस्थ करना, नकल करना तथा सेवा करना ही सीख सकेंगे।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि उस महान् आत्मा ने शिक्षा जगत् को अनेकानेक आधुनिकतम दर्शन प्रदान किए है, जिन पर अमल कर हम निश्चय ही मानव-जाति को सच्चा मानव बनने मे यथोचित् सहायता प्रदान कर सकते हैं; यथा—बाल-केन्द्रित शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया जाए, शिक्षा मे प्रकृतिवादी विचारधारा को यथोचित स्थान मिले, सिद्धान्त और व्यवहार—दोनो रूपो मे शिक्षा-प्रणाली प्रजातात्रिक हो; हृदय, हाथ एव मस्तिष्क—तीनो को समुचित रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान किया जाए, व्यावहारिक जीवन के साथ अध्यात्मवाद का सामंजस्य स्थापित करे, शिक्षा-जगत् से विदेशी-भाषाओ (भारत से विशेषकर अग्रेजी का) का बहिष्कार करे, राष्ट्रभाषा एव मातृभाषा को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाए, शिक्षा के माध्यम से बच्चो का चतुर्दिक विकास हो और शिक्षा का अतिम लक्ष्य हो आत्मोन्नयन के सहारे आत्मा का साक्षात्कार करना।

---

१. शिक्षा—रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ० ५४-५५

३ महात्मा गाँधी

किसी व्यक्ति-विशेष का जीवन-दर्शन सारे विश्व के लिए अनुकरणीय इसलिए होता है कि वह अपने जीवन का बलिदान सिर्फ अपने देश के लिए नही; बल्कि सारे विश्व के लिए करता है। महात्मा गाँधी भी एक ऐसे महामानव थे, जिन्होने अपने जीवन का बलिदान सिर्फ अपने लिए नही, सिर्फ अपने देश के लिए भी नही; बल्कि अखिल विश्व के लिए किया था। वे स्वयं कहा करते थे—"मै चाहता हूँ कि देश के लिए अपने जीवन का बलिदान करूँ और विश्व के लिए अपने देश का।" तभी तो काका साहेब कालेलकर ने लिखा भी है—"व्यक्तिगत साधना और समूह-साधना एक साथ चलाने वाले गाँधीजी का प्रभाव सारी दुनिया पर पड़ना स्वाभाविक ही है। उनकी साधना जितनी व्यक्तिगत थी उतनी ही वह विश्व-साधना भी थी और इसलिए यह निश्चित है कि भविष्यकाल के मनुष्य की शुभ प्रवृत्ति इस साधना के रंग से रंगेगी। साधना-शुद्धि का उनका आग्रह दुनिया के लिए आसानी से नही उतरेगा। लेकिन

उद्गार के लिए दूसरा रास्ता ही क्या है,

"नान्य. पन्था· विद्यते अयनाय !"

जन्म, बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा—

महात्मा गाँधी का जन्म २ अक्तूबर सन् १८६९ ई० को पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिताजी का नाम करमचन्द गाँधी था और माताजी का नाम श्रीमती पुतलीबाई। माता-पिता—दोनो ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। सक्षेप मे यही जान लिया जाए कि महात्मा गाँधी का बचपन भी धार्मिक वातावरण मे ही व्यतीत हुआ। यद्यपि पिताजी काठियावाड़ रियासत के दीवान थे, तथापि उनकी मनोवृत्ति स्वतत्र थी और व्यक्तिगत स्वाधीनता के साथ-साथ वे सामूहिक स्वाधीनता में विश्वास करते थे। अक्सर इनके माता-पिता इन्हे धार्मिक, राष्ट्रीय एव वीरतापूर्ण कथाये सुनाया करते थे।

गाँधीजी की प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर एव राजकोट में सम्पन्न हुई। इनकी गिनती विलक्षण प्रतिभा वाले छात्रो मे नही की जाती थी, किन्तु इनकी पवित्रता, सेवा-भावना एव ईमानदारी के कारण विद्यालय के लगभग सभी अध्यापक इनका अतिसय प्यार करते थे। इनके प्रारम्भिक जीवन की अनेको घटनाएँ ऐसी है जिनसे आज भी हमारे नौनिहालो को सत्प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। एक बार एक निरीक्षक महोदय ने विद्यालय का निरीक्षण करते समय इनकी कक्षा के सभी विद्यार्थियो से 'Kettle' शब्द का वर्ण-विन्यास करने को कहा। गाँधीजी के अतिरिक्त अन्य सभी छात्रो ने ठीक-ठीक उत्तर दिए; किन्तु गाँधीजी का विन्यास गलत हो गया। तभी अकस्मात् इनके वर्ण-शिक्षक की दृष्टि इनके स्लेट की ओर गई और उन्होने सकेत से कहा कि आगे वाले छात्र की कापी से नकल कर लो।

किन्तु गाँधीजी ने ऐसा नहीं किया। कारण, ये बचपन से ही चोरी करना पाप समझते थे। कहते है, उस समय तो शिक्षक महोदय को भी गांधीजी के आचरण पर बहुत दु:ख हुआ, किन्तु बाद मे उन्होंने आह्लाद के साथ इनकी पीठ ठोकी और कहा—"सभी विद्यार्थियो को गांधीजीके आचरण का अनुकरण करना चाहिए।" किन्तु कालक्रमानुसार कतिपय दुष्ट एव नास्तिक साथियो के प्रपच-जाल मे फँसकर गाधीजी को भी सिगरेट पीने एव मास आदि खाने की आदत पड गई। फलत. कई बार उन्हे अपने सम्बन्धियो की जेब से पैसे चुराने पड़े, अपने भाई का सोना चुराकर बेचना पडा। अन्ततोगत्वा इनको अन्त प्रेरणा मिली, कि अपने कुकृत्य के लिए तुम अपने पिताजी से लिखित क्षमा-याचना करो, वे अवश्य क्षमा कर देंगे, और तदुपरान्त पवित्र आचरण का सकल्प लेकर सन्मार्ग की ओर अग्रसर होना। गांधीजी ने वैसा ही किया। उसी समय एक पत्र के माध्यम से इन्होंने अपने पिताजी से क्षमा-याचना की और उनसे आशीर्वचन लेने के बाद सत्य, अहिंसा एव प्रेम के सहारे नये ढंग से अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ कर दी।

विद्यार्थी-जीवन मे ही गाधीजी को श्रवणकुमार एवं सत्यवादी हरिश्चन्द्र नाटक देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उन दोनों नाटको का इनके हृदय पर ऐसा अमिट प्रभाव पडा कि जब तक इनके माता-पिता जीवित रहे तब तक इन्होंने तन-मन-धन से उनकी सेवा-सुश्रूषा की और जीवन-भर सत्य-धर्म का पालन करते रहे। लगभग १३ वर्ष की उम्र मे ही कुमारी कस्तूरबा के साथ इनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ और जैसा कि गाधीजी ने स्वयं स्वीकारा है कि उनका वैवाहिक जीवन बड़ा ही सुन्दर रहा, श्रीमती कस्तूरबा उनके जीवन की प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुई।

हाई स्कूल की शिक्षा प्राप्त करने के बाद सन् १८८५ ई० मे गाँधीजी कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैंड चले गए। वहाँ इनका रहन-सहन बिल्कुल सादा था। स्वय अपने ही हाथो से ये खाना बनाया करते थे। मछली-मास आदि तो इन्होने अपने हाथो से छुआ तक नही। जब तक वहाँ रहे, तब तक वहाँ भी निरामिष भोजन ही करते रहे। इगलैंड मे ही इन्होने गीता का अग्रेजी अनुवाद पढ़ा और उसका इनके मानस पर ऐसा गहरा प्रभाव पडा कि गीता को ही ये अपना जीवन समझने लगे और उसका एक-एक शब्द इनके जीवन का पथ-प्रदर्शक बन गया।

स्वाधीनता की ओर—

सन् १८९१ ई० मे गाँधीजी विलायत से भारत लौटे। यहाँ आने के बाद उन्होने सर्वप्रथम वकालत को ही जीविकोपार्जन का आधार बनाया। किन्तु ब्रिटिश सरकार की धाँधली एव अन्यान्य वकीलो की शोषणपूर्ण नीति को देखकर वे बहुत दुखी हुए; उन्हे अपने पेशे के गलत चुनाव के लिए पश्चात्ताप होने लगा। सौभाग्य से उसी समय दक्षिण अफ्रीका मे निवास करने वाले भारतवासियों की ओर से एक मुकदमे की वकालत करने के लिए इनके पास एक आग्रह-पत्र आया। इन्होने अपनी स्वीकृति भेज दी और अपने परिवार के सभी सदस्यो से राय-मशविरा कर दक्षिण अफ्रीका के लिए प्रस्थान कर दिया।

वहाँ पहुँचने के बाद मे सिर्फ भारतीय व्यापारी-वर्ग से ही नही मिले, बल्कि जितने भी प्रमुख भारतवासी वहाँ स्थायी रूप से निवास कर रहे थे सबो से मिले और तत्कालीन परिस्थिति की सच्ची जानकारी हासिल की। तदुपरान्त इन्होने दक्षिण अफ्रीका के कोने-कोने का भ्रमण किया और भारतीयो पर

जोरो के अत्याचारो, अपमानों एवं उनके दुर्व्यवहारों का गहन अध्ययन भी किया। एक दिन जब वे स्वयं नैटाल से ट्रान्सवाल जा रहे थे, तब अंग्रेजों ने उनके आत्म-सम्मान पर भी धक्का पहुँचाया। यद्यपि गाँधीजी के पास भी प्रथम श्रेणी का ही टिकट था, तथापि अंग्रेज यात्रियों के कहने पर उन्हे प्रथम श्रेणी के डिब्बे से धकेल कर सामान के साथ बाहर कर दिया गया। कहते है, भारतीयो के साथ जोरो के इस प्रकार के दुर्व्यवहार को देखकर गाँधीजी की आँखो से आँसू आने लगे और तत्क्षण उन्होने सकल्प किया—"जब तक भारतवासियो को स्वाधीन न कर लूँगा, तब तक चैन की सास न लूँगा।......प्रभु! लो, आज से तुम्हारा दिया हुआ यह क्षणभगुर शरीर विश्व-कल्याण को दृष्टि मे रखते हुए, स्वाधीनता देवी के चरण-कमलों में समर्पित किया जा रहा है।"

इसके बाद गाँधीजी ने 'सत्याग्रह' का नारा बुलन्द किया और तमाम उपेक्षित जन-समूहो को अपने स्नेह-सूत्र में समेट शान्तिपूर्ण ढग से सरकार के अमानुषिक विधानो का विरोध करने लगे। इस प्रकार लगभग २० वर्षो तक दानव और देवता का वह अभूतपूर्व सग्राम चलता रहा। अन्तत. सन् १९१४ ई० में सरकार ने बाध्य होकर गाँधीजी के साथ समझौता किया और तब से भारतवासियो के साथ भी मनुष्य की तरह व्यवहार किया जाने लगा।

यहां यह भी जान लिया जान लिया जाए कि गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के २० वर्षों के जीवन मे सिर्फ राजनीतिक गति-विधियो का ही अनुभव नहीं प्राप्त किया, बल्कि विविध शैक्षणिक प्रक्रियाओ का भी गहरा अध्ययन किया। उस समय दक्षिण अफ्रीका मे 'टालस्टाय फर्म' के द्वारा शिक्षा-जगत् मे

अनेकों सुधारवादी कार्य किए जा रहे थे। गाँधीजी ने भी उक्त फर्म के एक विद्यालय मे अध्यापन-कार्य किया। वहाँ की सबसे बडी विशेषता यह थी कि पढाई-लिखाई के बाद अन्य जीवनोपयोगी कार्य भी सिखाए जाते थे; यथा—बढईगिरी करने, बागवानी करने, चप्पल बनाने एव भोजन बनाने आदि के काम। गाँधीजी ने भी पूरी तल्लीनता के साथ सन् १९११ ई० से लगभग १९१४ ई० तक इस प्रकार के शैक्षणिक प्रयोग किए।

सन् १९१५ ई० मे वे दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे और साबरमती मे एक आश्रम की स्थापना कर अपने सहयोगियों एव परिवार के साथ वही पर निवास करने लगे। अब उनके समक्ष सिर्फ दो ही कार्य थे—सत्य, अहिंसा एव प्रेम के सहारे भारत को आजाद करना और तमाम देशवासियो को आत्मनिर्भरता एव स्वावलम्बन की शिक्षा देना। सर्वप्रथम आश्रमवासियो को ही उन्होने अपने अभूतपूर्व सिद्धान्तो की सीख दी। तदुपरान्त सेवाग्राम में एक विद्यालय को स्थापना की गई; जिसमे विद्याध्ययन करने के साथ-साथ विद्यार्थियो को स्वय ही अपने सभी कार्य करने पड़ते थे; यथा—कपड़े साफ करना, बर्तन साफ करना, भोजन बनाना, वस्त्र तैयार करना, टट्टी साफ करना, आदि। इस प्रकार धीरे-धीरे उक्त विद्यालय के आदर्शों का प्रचार-प्रसार होने लगा। इसी बीच चम्पारन के किसान-मजदूरो ने अग्रेजो के विरुद्ध सग्राम छेड़ने के लिए इनको वही पर आमन्त्रित किया।

बात ऐसी थी कि नील की खेती करने वाले अग्रेज-बन्धु वहाँ के किसान-मजदूरो के साथ बड़ा अन्याय कर रहे थे। उनके साथ मनुष्य की तरह व्यवहार नही किया जाता था। किन्तु जब गाँधीजी वहाँ पहुँचे, तब वातावरण मे एक विचित्र-सी

रौनक आ गयी; तमाम जनता-जनार्दन के हृदय में नूतन प्राण-धारा का संचार होने लगा।

कहते है, चम्पारन पहुँचने के तुरन्त बाद गाँधीजी ने वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन करना आरम्भ कर दिया और जब उन्हें इस तथ्य मे पूर्णत: विश्वास हो गया कि अंग्रेजों के द्वारा किसानो एव मजदूरो का शोषण हो रहा है, तब वहां के तमाम किसानो-मजदूरो एवं भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद तथा उनके अन्य साथियो के सहयोग से उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन की घोषणा कर दी। अन्ततोगत्वा बाध्य होकर ब्रिटिश सरकार ने गाँधीजी के साथ समझौता किया, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ के तमाम जमीदारो को उन रुपयों में से २५ प्रतिशत लौटा देने पडे, जिन्हे उन्होने काम करने वाले कृषक-मजदूरों से वसूल किए थे।

भारतवर्ष में गांधीजी के सत्याग्रह का यही सबसे पहला प्रयोग था और यही थी उनके सत्याग्रह की सबसे पहली सफलता।

इसके बाद तो भारतवर्ष के कोने-कोने में सत्याग्रह आन्दोलन का समां बँध गया। जलियाँवाला बाग का हत्याकाड, नमक-आन्दोलन, साइमन कमीशन का विरोध, आदि ऐसी अभूतपूर्व घटनाएँ है, जिनकी याद कर आज भी भारतीय जनता की आँखो से आंसू की अविरल धाराएँ प्रवाहित होने लगती है। यहा पर संक्षेप मे इतना ही समझ लिया जाए कि उक्त स्वाधीनता संग्राम मे भारतमाता के कितने सपूत शहीद हुए, इसका समुचित लेखा-जोखा ईश्वर ही प्रस्तुत कर सकते है, मनुष्य नहीं क्योंकि मनुष्य के द्वारा संभव ही नहीं है, बिल्कुल असम्भव।

यहां मुझे महात्मा गांधी के द्वारा दिए गए 'भारत छोड़ो'

आन्दोलन के उद्घाटन-भाषण का एक अंश याद हो आ रहा है। ८ अगस्त १९४२ ई० की सन्ध्या को महात्मा गाँधी ने जो अमूल्य मन्त्र हम भारतवासियो को दिए थे, वे आज भी हमें, हमारी अनोखी आजादी के महत्व की याद दिला रहे हैः—

"इस क्षण के वाद आप मे से प्रत्येक नर एव नारी स्वतत्र है और आप स्वतन्त्र नागरिक की तरह व्यवहार करे। जिस क्षण आप अपने को स्वतन्त्र मानते है, उसी क्षण दासता के बन्धन टूट जाते है। यही सक्षिप्त मन्त्र मै आपको देता हूँ। आप इसे अपने हृदय मे धारण करे और आपकी प्रत्येक साँस मे यही मन्त्र रहना चाहिए। मत्र है—'करो या मरो।' ईश्वर और अपनी आत्मा के सम्मुख प्रतिज्ञा करे कि आप उस समय तक चैन की साँस न लेगे, जब तक स्वतन्त्रता न मिल जाए। कायर एव दुर्बल हृदय वाले व्यक्ति को स्वतन्त्रता नही मिल सकती।"

इस प्रकार राजनीति मे भी सत्य, अहिसा एव प्रेम के प्रयोग के सहारे १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत आजाद हुआ, देश के कोने-कोने मे दीपावली मनाई गई और अबाल-वृद्ध सबों के मुखारविन्द से आह्लाद के शब्द फूट पड़े—

भारतमाता की—जय।
अमर शहीदों की—जय।
महात्मा गाँधी की—जय।
१५ अगस्त—जिन्दाबाद।

किन्तु, शोक! अंग्रेजो की कूटनीति के कारण भारत की आत्मा के दो टुकडे हो गए—भारत और पाकिस्तान। राष्ट्रपिता को, अपने दो वेटों को एक-दूसरे से अलग होते हुए देखकर बहुत दुःख हुआ, उनकी आँखो से आँसू आने लगे और शायद इसीलिए उन्होने परमपिता परमेश्वर में प्रार्थना भी की—'प्रभु! अब

मुझे यहाँ से ले चलो !' जिस प्रकार एक बहेलिया के तीर से भगवान कृष्ण की लौकिक लीला समाप्त हुई थी, उसी प्रकार नाथूराम गोडसे नामक एक पागल हिन्दू की गोली से महात्मा गाँधी की भी लौकिक लीला समाप्त हो गई।

३० जनवरी, १९४८ का वह निष्ठुर क्षण, जिस समय बापू बिरला मन्दिर में प्रार्थना करने जा रहे थे, और जिस समय उस शान्तिदूत के कलेजे पर गोली दागी गई थी, निःसन्देह अविस्मरणीय है और रह-रहकर हमें सिर्फ उनकी अन्तिम प्रतिध्वनि 'हे राम !' की ही याद नही दिला रही है, बल्कि इस अलौकिक शब्द (राम) के माध्यम से अपनी भारतीय संस्कृति के प्रति जागरूक भी कर रही है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने सम्पूर्ण देश के नागरिको के समक्ष उस अनन्तात्मा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ठीक ही कहा था—

"......यह कहना भी भूल होगा कि रोशनी बुझ गई, क्योंकि देश की यह रोशनी कोई साधारण प्रकाश न थी। यह प्रकाश हमको भविष्य में बहुत वर्षों तक देदीप्यमान करता रहेगा और इसका प्रकाश इस देश में हजारों वर्षों तक दिखाई देता रहेगा। इससे असंख्य हृदयों को सान्त्वना मिलेगी। क्योंकि यह प्रकाश सत्य का प्रतिनिधि था और वह सनातन पुरुष हमारे बीच चिरन्तन सत्य लिये उपस्थित था और हमें सत्य-पथ की याद दिलाते हुए तथा भूलों से रोकते हुए प्राचीन देश की ओर ले जा रहा था।"

जीवन-दर्शन—

महात्मा गांधी एकेश्वरवादी थे। वे सृष्टि के कण-कण में अपने परम प्रभु का दर्शन करते थे। इसीलिए उन्होंने हम सबों को सन्मति के लिए अपने परम प्रभु से प्रार्थना की थी—

"रघुपति राघव राजा राम,
पतित पावन सीताराम।
ईश्वर-अल्ला तेरे नाम,
सबको सन्मति दे भगवान॥"

एक जगह उन्होने लिखा भी है—"मै ईश्वर के सम्पूर्ण एकत्व मे विश्वास करता हूँ और इसालिए मनुष्यता के एकत्व मे भी। हम सब बहुत से शरीर रखते है, किन्तु सब में केवल एक ही आत्मा है। आवर्त्तन के द्वारा सूर्य की अनेक किरणे दीख पडती हैं, किन्तु उद्गम सूर्य ही होता है।"

बापू का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन उनके सत्य, अहिसा एवं प्रेम मे अन्तर्निहित है। अतः संक्षेप मे हम यहाँ भी उनके इन अमर सिद्धान्तों की चर्चा कर ले—

संस्कृत मे सत्य के लिए 'सत्' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ होता है—वह जो विद्यमान है। गाँधीजी इसी अर्थ मे सत्य को ईश्वर कहते थे। उनका कथन है—"सत्य ही परमेश्वर है, यह बात मेरी सबसे अमूल्य निधि रही है। मेरी कामना है कि यह सब की ही अमूल्य निधि हो। इस सच्चाई पर विश्वास करना ही हमारे अस्तित्व का एकमात्र औचित्य है।"

प्रश्न उठता है कि सत्य क्या है, इस सम्बन्ध में गाँधीजी का कहना है कि 'आत्मा की आवाज ही सत्य है।' किन्तु प्रत्येक व्यक्ति आत्मा की आवाज को नही सुन सकता। इसके लिए अपने आपको अनुशासित करने की आवश्यकता है। जब तक मनुष्य 'स्व' का त्याग नही कर देता, तब तक उसे अपनी आत्मा की आवाज सुनाई नही पडती।

गाँधीजी किसी व्यक्ति-विशेष को भगवान नही मानते थे। वे ईश्वर और ईश्वर के नियम मे लेशमात्र भी अन्तर नहीं

समझते थे। उन्होने स्वयं कहा है—"मैं भगवान को एक व्यक्ति नही मानता हूँ। मेरे लिए सत्य ही भगवान है और वास्तव में भगवान के नियम और भगवान उस तरह पृथक नहीं है जिस तरह कोई भौतिक राजा और उसके नियम पृथक है। मेरे लिए सत्य और प्रेम भगवान है, नीतिशास्त्र और नैतिकता भगवान है और निर्भयता भगवान है।" —(ईश्वर और सत्य—गांधी)

और, इस 'परमसत्य' (ईश्वर) की खोज के लिए उन्होने 'शान्त प्रयत्न', 'मूक प्रार्थना', 'आत्मबल' एव 'अहिंसात्मक सत्याग्रह' को आवश्यक माना है।

गांधीजी 'अहिंसा परमोधर्मः' के सच्चे उपासक थे। उनकी दृष्टि में सत्य रूपी परमेश्वर के साक्षात्कार का एक ही मार्ग था, और वह था—'अहिंसा'। यदि सत्य को वे साध्य समझते थे, तो अहिंसा को वहाँ तक पहुँचने का साधन। उन्होने कहा भी है—'मै अहिंसा के मार्ग से सत्य का शोधन करता हूँ।'

मनसा, वाचा, कर्मणा—तीनो प्रकार से गांधीजी अहिंसा-पालन मे विश्वास करते थे। मात्र किसी को शारीरिक चोट पहुँचाना या जान से मार देना ही हिंसा नही है, बल्कि अहभाव, इन्द्रियलिप्सा, सकुचित स्वार्थपरता, अमानुषिक भोगवृत्ति आदि सभी हिंसा के ही प्रतिरूप है। विशेषकर ईर्ष्या, द्वेष और घृणा को तो वे अहिंसा का कट्टर दुश्मन समझते थे। उनका कहना था कि "किसी के पाप से घृणा करो, पापी से घृणा मत करो।"

गांधीजी ने अहिंसात्मक प्रयोग के सहारे यह भी सिद्ध कर दिया कि अहिंसा का आधार निर्भयता है। उनके सिद्धान्त के अनुसार कायर व्यक्ति अहिंसा का पुजारी नहीं हो सकता। अहिंसा तो नैतिक बल है, जिसके सामने ससार की तमाम शक्तियो को

झुकना पड़ता है। अतः धैर्य, आन्तरिक शान्ति, आत्म-त्याग, निराभिमान, निर्भयता एव दया आदि सद्‌गुणों के सहारे मनुष्य को 'अहिसा परमोधर्म.' की उपासना करनी चाहिए।

जहाँ तक प्रेम का सम्वन्ध है, उनकी दृष्टि मे प्रेम अहिसा का ही एक अग है। या या कहे कि अहिसा का दूसरा नाम प्रेम-मार्ग है। वे अपने-आपको प्रेम-साधना मे डुबो देना चाहते थे। वे इस बात मे विश्वास करते थे कि प्रेम की हुकूमत के आगे सिर झुकाए बिना मनुष्य को चरम सत्य की प्राप्ति नही हो सकती। गाँधीजी निष्काम प्रेम के पुजारी थे। उनके अनुसार प्रेम की दुनिया मे 'देना' शब्द है। 'लेना' शब्द नही जो प्रेमी दान करने के बाद उसके बदले में कुछ लेना चाहता है, वह सच्चा प्रेमी नही है। 'प्रेम सदा दुःख सहता है, कभी दुःख देता नही, कभी बदला नही लेता। जहाँ प्रेम है, वही भगवान है।' अतः हम शनैः शनैः अपने प्रेम का विस्तार करे—पहले अपने-आपको प्यार करे, फिर गाँव, जिला, प्रान्त एव देश को प्यार करे और अन्त मे विश्व-प्रेम में अपने-आपको लीन कर दे।

इस प्रकार सत्य, अहिंसा एव प्रेम के आधार पर उन्होंने हमें बताया कि 'मनुष्य की सेवा ही ईश्वर की पुष्कल पूजा है। उनके तमाम दर्शन, यथा—धर्म-दर्शन, अर्थ-दर्शन, राजनीतिक दर्शन एव शिक्षा-दर्शन आदि का उद्देश्य एक ही शब्द 'सर्वोदय' में अन्तर्निहित है। वे सत्य, अहिसा एव प्रेम के माध्यम से सवो का कल्याण करना चाहते थे। 'सर्वे भवन्तु सुखिन.' ही उनके सर्वोदय का नारा है। उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष, राजा-रंक, ब्राह्मण-क्षत्रिय, पशु-पक्षी आदि सबों में एक ही आत्मा विराजती है, सभी एक ही परमात्मा के अश है, अतः सवो के कल्याण मे ही सर्वोदय की सफलता निहित है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के

लिए उन्होने रामराज्य की कल्पना की थी। कहा था—"मेरे कल्पना के रामराज्य में राजा और रंक का पद बराबर होगा। राजा और रंक, ब्राह्मण तथा भगी को अलग करने वाली जो दीवाल है, वह न रहेगी।" वे प्रत्येक गाँव को स्वावलम्बी इकाई का रूप देना चाहते थे। उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण ही उनके ग्रामराज्य का आधार था। सक्षेप मे यही कहा जाए कि वे एक ऐसे शोषण-विहीन अहिंसात्मक सर्वोदयी समाज की स्थापना करना चाहते थे, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे का सेवक हो, स्वामी नही, जिसमे सभी यज्ञ-भावना से उत्प्रेरित होकर निष्काम भाव से समाज-कल्याण के लिए कार्य करें और जिसमे अधिकार-प्राप्ति का आधार कर्तव्य-पालन हो, अधिकार की माँग नही।

उनके धर्म-दर्शन के सम्बन्ध में इतना ही जान लिया जाए कि महात्मा गाधी समन्वय की प्रतिमूर्ति थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एव 'सर्वे भवन्तु सुखिन' जो भारतीय सस्कृति की सर्वोत्कृष्ट विशेषता रही है, उसी को उन्होने सत्य, अहिंसा, प्रेम, सहयोग एवं सद्भावना के सहारे व्यावहारिक रूप प्रदान किया और दुनिया के सभी धर्मों का आदर के साथ परिचय प्राप्त करने के बाद यह सन्देश दिया कि—"मनुष्य के मन में सब धर्मों के प्रति आदर-भाव होना चाहिए। सब धर्म सच्चे और अच्छे हैं। सब धर्मों में उन्नति का मद्दा है। जो बात हमें जंच जाए उसे हम स्वीकार करे और जो न जँचे उसके बारे में किसी से झगड़ा न करें। हम धैर्य के साथ राह देखें।"

और अपने धर्म-दर्शन के सैद्धातिक आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए ही उन्होने अपने आश्रम की बुनियाद में ग्यारह व्रतो को प्रतिष्ठित किया जिनमे सर्व-धर्म-समन्वय की भावना ही प्रधान है—

"अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य असंग्रह
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भय-वर्जन॥
सर्वधर्मो समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना
ही एकादश सेवाणी नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥"

अर्थात् अहिसा, सत्य, अस्तेय (चोरी नही करना), ब्रह्मचर्य, असग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सब धर्मो की समानता, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण—इन एकादश व्रतो का नम्रतापूर्वक पालन करना चाहिए ।

तात्पर्य यह कि विभिन्न धर्म जीवन के विभिन्न रास्ते है जो एक ही स्थान पर एक-दूसरे से मिलते है । अत' हममे से प्रत्येक व्यक्ति का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि हम अपने-अपने धर्म को मानव-मानव के बीच मेल का साधन समझकर एक-दूसरे को मदद करे और फिर अन्त मे एक ही मकसूद पर पहुँचकर अन्तरात्मा के साथ एकाकार हो जाएँ ।

शिक्षा-दर्शन—

महात्मा गाँधी के शिक्षा-दर्शन का स्रोत उनका जीवन-दर्शन है और उनके जीवन-दर्शन का आदिस्रोत ईश्वर, जीव और जगत् की प्रकृति । उस समय भारत की शिक्षा-व्यवस्था भारतवासियों की प्रवृत्ति के प्रतिकूल थी । शिक्षा के माध्यम से भारतीय सस्कृति एव सभ्यता का सर्वथा अपमान किया जा रहा था । स्त्री-शिक्षा एव प्रौढ-शिक्षा का तो कही नामोनिशान भी नही था । शिक्षा के नाम पर जितने भी महत्वपूर्ण कार्य होते थे, उनका एक ही उद्देश्य था—भारतवासियो को मूर्ख, पशु और परमुखापेक्षी बनाकर उनके मानस पर शासन किया जाए । लार्ड मकाले ने एक बार कहा भी था—"हमे जनता के एक ऐसे वर्ग की रचना के लिए भर-

पूर प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे बीच दोभापिये के रूप मे रहे तथा जिसके माध्यम से हम लाखो लोगो पर शासन कर सकें। यह वर्ग रक्त और रंग मे भारतीय हो, लेकिन रुचि, विचार, शब्द एवं बुद्धि मे अंग्रेज हो।"

अतएव ब्रिटिश शिक्षा-प्रणाली की प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप महात्मा गांधी ने बिना उसकी शिकायत किए खुले शब्दों में शिक्षा के महत्व की घोषणा की—"शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक एव मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के उत्कृष्ट एवं सर्वांगीण विकास से है, साक्षरता शिक्षा की न तो अन्तिम सीढी है और न प्रथम सोपान। यह तो स्त्री-पुरुष को शिक्षित करने का एक साधन है, साक्षरता स्वय शिक्षा नही कहला सकती।"

और सच्ची शिक्षा का सच्चा अर्थ क्या है, इसका विश्लेषण प्रस्तुत किया—"उस आदमी को सच्ची शिक्षा मिली है जिसका शरीर इतना सधा हुआ है कि वह उसके काबू मे रह सके और आराम व आसानी के साथ उसका बताया हुआ काम करे। उस आदमी को सच्ची शिक्षा मिली है जिसकी बुद्धि शुद्ध है, शान्त है और न्यायदर्शी है। उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसका मन प्रकृति के नियमों से भरा है, जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में है, जिसकी अन्तवृ त्ति विशुद्ध है और जो आदमी नीच आचरण को धिक्कारता है तथा दूसरो को अपने जैसा समझता है। ऐसा आदमी सचमुच मे शिक्षा पाया हुआ माना जाता है।"

तात्पर्य यह कि वे मनुष्य को, सच्चा मनुष्य बनाने वाली सच्ची शिक्षा देना चाहते थे। उनके शिक्षा-सिद्धान्तो का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय, हाथ एवं मस्तिष्क—तीनो के समुचित विकास के अभाव मे मनुष्य का सर्वांगीण विकास नही हो सकता। इसीलिए उन्होने शिक्षा-जगत् को बुनियादी-शिक्षा (इसी को

बेसिक-शिक्षा, नई तालीम एव वर्धा-शिक्षा-योजना भी कहते है) के रूप मे एक नया सिद्धान्त दिया और समझाया कि "नई तालीम का नयापन यही है कि उससे हम प्रेरणा प्राप्त करते है। उसीके द्वारा सत्य, अहिसा, प्रेम, सहयोग, सहानुभूति इत्यादि से समन्वित सर्वोदय-समाज की स्थापना कर मानव-कल्याण की कल्पना कर सकते है।"

बुनियादी शिक्षा-सिद्धान्त—

गाँधीजी के निर्देशानुसार जाकिरहुसेन समिति ने बुनियादी शिक्षा के निम्नलिखित सिद्धान्त निरूपित किए थे—

(१) सात वर्ष तक नि शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(३) शिक्षा किसी दस्तकारी या उत्पादक कार्य पर अवलम्बित हो।

(४) पाठशालाएँ आत्म-निर्भर हो और शिक्षक का वेतन निकाल ले।

निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा—इस पद्धति के अन्तर्गत सात से चौदह वर्ष तक के बालको को अनिवार्य नि शुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी। किन्तु कुछ दिनो के बाद इस अवधि को दो भागो में बाँट दिया गया—जूनियर बेसिक शिक्षा और सीनियर बेसिक शिक्षा। प्रथम के अन्तर्गत छः से ग्यारह साल तक के बालको की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया और द्वितीय के अन्तर्गत ग्यारह से चौदह साल तक की उम्र के बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध। इस योजना का एकमात्र उद्देश्य ऊँच-नीच, धनी-गरीब सबों की सन्तानों को शिक्षित करना एव उन्हें प्रारम्भ से ही स्वावलम्बन की शिक्षा देना था।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा—समिति ने सर्व-सम्मति से यह निर्णय किया कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। कारण मातृभाषा के माध्यम से ही बच्चों को अपनी संस्कृति की वास्तविक शिक्षा दी जा सकती है क्योंकि मातृभाषा का सम्बन्ध उनके रक्त और मास के साथ होता है। महात्मा गाँधी ने कहा भी था—"विदेशी भाषा ने हमे अपने घरो को विदेशी बनाने के साथ-साथ रट्टू तोता भी बना दिया है। हमारी मौलिकता पूर्णतया समाप्त हो चुकी है। अपनी भाषा मे अपनी संस्कृति तथा जनता की आशा निहित होती है। इसी को पढ़ने से भावों मे यथार्थता तथा स्पष्टता आती है और इसी को पढ़कर हम जनता के विचारो तथा आशाओ को जान सकते है। इससे नैतिकता तथा सौन्दर्योपासना का जन्म होता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तानी द्वितीय भाषा के रूप मे यहाँ स्वीकृत की गई है। यह भी अनिवार्य है क्योकि जनता की भाषा यही है।

शिक्षा किसी दस्तकारी या उत्पादक कार्य पर अवलम्बित हो—इस शिक्षा का माध्यम हस्तकला है। इसे बुनियादी इसलिए कहा जाता है कि "सम्पूर्ण शिक्षण किसी हस्तकला के चारो ओर केन्द्रित होता है और सम्पूर्ण शिक्षा दस्तकारी के अनुसार दी जाती है। इसमे सभी विषय भिन्न-भिन्न न होकर परस्पर केन्द्रित होते है, जैसे सौर-मडल मे सूर्य के चारो ओर ग्रह रहते है और सूर्य से सचालित तथा उसी पर आश्रित रहते हैं, ठीक उसी प्रकार यहाँ हस्तकला के केन्द्र के चारों ओर अन्य विषय सज्जित है। साथ ही इसके वैज्ञानिक रूप पर बल देना चाहिए अर्थात् बालको में प्रत्येक बात पर 'क्यो और कैसे' जानने की प्रतिक्रिया हो तभी इस शिक्षा को सफल कर सकते हैं।"

—डॉ० बालकृष्ण एन० पंडित (शिक्षण-विधि)

आत्म-निर्भरता—देश की नाजुक आर्थिक स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया था। चूँकि भारत के अधिकाश नौनिहाल अपने माता-पिता की आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही शिक्षा प्राप्त करने से वचित रह जाते थे, अत. गाँधोजी के निर्देशानुसार समिति ने यह तय किया, कि पाठशालाओ को ही आत्म-निर्भर बना दिया जाए, ताकि न तो अभिभावको से आर्थिक सहायता लेने की आवश्यकता महसूस हो और न सरकार से हो। इसीलिए उद्योग-केन्द्रित शिक्षा की व्यवस्थाा की गई। इससे बच्चो का सिफ चतुर्दिक विकास ही नही होता, बल्कि वे आत्म-निर्भर भो हो जाते है और उन्ही के उद्योग से शिक्षको का वेतन भी निकल जाता है। गाँधीजो ने इस सम्बन्ध में कहा भी था—"मै ऐसा चाहता हूँ कि शिल्प के द्वारा जो धन बच्चा पैदा करे उससे उसकी शिक्षा का खर्च निकल सके, क्योकि मेरा विश्वास है कि देश के करोडो बच्चो को शिक्षा देने का और कोई उपाय नही है। यह भी उचित नही है कि हम उस समय तक प्रतीक्षा करे जब कि सरकार खजानो मे से हमें धन दे। शिक्षा का आत्म-निर्भर होना ही इसकी सफ-की कुन्जी है।"……"यह शिक्षा-प्रणाली धीरे-धीरे अध्यापकों के वेतन का व्यय भो निकाल सकेगी।"

पाठ्यक्रम—बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम मे निम्नलिखित बातो का समावेश है—

१ **हस्तकलाएँ**—इसमे कताई, बुनाई, बढईगीरी तथा बागवानी आदि सम्मिलित है। स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियो को दृष्टि मे रखते हुए अन्य कार्य भी चुने जा सकते है।

२. **मातृभाषा**—यह शिक्षा की माध्यमिक भाषा है।

३ **सामाजिक अध्ययन**—इसमे इतिहास, भूगोल, नागरिक

शास्त्र एवं अर्थशास्त्र आदि विषय भी सम्मिलित किए जाते हैं।

४. सामान्य विज्ञान—इसमें बागवानी, वनस्पति-शास्त्र, पशु-विद्या, स्वास्थ्य-विज्ञान, रसायन-शास्त्र आदि सम्मिलित हैं।

५. गणित—इसके अन्तर्गत अंकगणित, बीजगणित एवं रेखागणित सम्मिलित है।

६. कला—चित्रकला एव ड्राइंग।

७. संगीत।

८. हिन्दुस्तानी—इसका सम्बन्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी से है।

इस योजना में पाँचवी कक्षा तक लड़के एव लड़कियों का कोर्स एक ही होता है, परन्तु छठी एव सातवी कक्षा के पाठ्यक्रमों में लड़कियो के लिए गृह-विज्ञान की व्यवस्था की जाती है, तथा लड़को के लिए सामान्य-विज्ञान की।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बुनियादी शिक्षा-प्रणाली सिर्फ भारत के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए अनुकरणीय है। कारण, इसमें मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय सस्कृति एवं विश्व-कल्याण को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। इसकी अधिकांश विशेषताएँ ऐसी हैं जिनका निरूपण सम्पूर्ण विश्व-कल्याण की भावना को दृष्टि मे रखकर किया गया है, यथा—यह योजना शिक्षा, दर्शन एवं मनोविज्ञान के नवीनतम सिद्धान्तों पर आधारित है, इसके अन्तर्गत क्रिया द्वारा शिक्षा दी जाती है, इसमे बच्चों की जन्मजात प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यह प्रणाली स्वभाव से ही प्रगतिशील है, और बच्चो के चतुर्दिक विकास यानी उसके हृदय, हाथ और मस्तिष्क—तीनों के संतुलित विकास को प्रश्रय देती है। इसमें धनी-गरीब एव ऊँच-नीच आदि की शिक्षा-दीक्षा मे

किसी तरह का भेद-भाव नहीं किया जाता आदि। सक्षेप में यही कहा जाए कि बुनियादी शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य सिर्फ आत्म-कल्याण ही नही बल्कि राष्ट्र-कल्याण है और विश्व-कल्याण भी है।

●

४ विनोबा भावे

ईश्वर की लीला बडी विचित्र है। अदृश्य रहकर भी वे दिन-रात अपनी सन्तानो की सेवा-सुश्रूषा मे तल्लीन रहते है। लेकिन हम जीवात्माओ को इसका वोध नही होता कि संसार के तमाम प्राणियो की कार्यक्षमता और कर्मशैली के पीछे किसी अदृश्य-अलौकिक शक्ति का भी हाथ है। परिणामतः अपनी अज्ञानता के कारण हम आपस में ही लडने-झगडने लगते है, एक-दूसरे का गला घोटने मे ही हमे आनन्द का अनुभव होता है, निर्बलो पर वल-प्रयोग कर हम उनके रक्त का शोपण करते है, और अपने को उत्कृष्ट स्वामी मानकर दूसरे को निकृष्ट दास समझ बैठते है। प्रश्न उठता है, क्या इस तरह का दुष्कृत्यपूर्ण आचरण स्थायी होता है ? नही, कदापि नही। परमात्मा अपनी सन्तानो की असह्य वेदना को कभी भी सहन नही कर सकता। किसी-न-किसी रूप में वह इस धराधाम पर अवश्य अवतरित होता है, और दुष्टात्माओं को जीवन की सच्ची शिक्षा देकर, दोनो पक्षो मे समझौता करा, फिर यहाँ से साधारण मानव की तरह ही प्रस्थान कर देता है।

विनोबाजी को भी मै परमात्मा का एक विशेष प्रतिनिधि मानता हूँ, जिनका आविर्भाव विशेषतः जात-पाँत, ऊँच-नीच एवं अमीर-गरीब के भेद-भाव को मिटाकर सारे संसार मे समता का साम्राज्य स्थापित करने के लिए ही हुआ है। आज नही, तो कल, कल नही तो परसो, लेकिन एक-न-एक दिन हम विनोबा की वाणी को समझेंगे अवश्य, और वह सृष्टि के कण-कण से बोलेगा–

"भूमि के हर पुत्र का भूमि-माता पर हक है, सो यह विचार मेरा निज का नही है। यह तो वैदिक कथन है। कोई भी लडका माता की सेवा से अपने किसी दूसरे भाई को रोक नही सकता। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि कोई भी शख्स किसी से भी जमीन माँगे तो उसे वह मिलनी ही चाहिए और जमीन वालो का यह कर्त्तव्य है कि उसे वह दे। क्या पानी माँगने पर किसी को ना कहा जाता है ? ना कहने वाला कितना शर्मिन्दा हो जाता है, यह आप जानते है। उसी तरह जमीन माँगने पर ना कहने मे शर्म आवेगी।

"हवा, पानी और सूरज की रोशनी, ये सब ईश्वरीय देने जैसे सबके लिए होती है, वैसे भूमि भी भगवान की देन है और सबके लिए है। भूमि सबकी माता है और भूमि के सब पुत्र है— यह है हमारी सभ्यता का आदि वचन जिसे वेद ने प्रकट किया है। भूमिहीनो का हक समझ करके, उन्हे अपने कुटुम्ब के जन के रूप मे पहचान करके, अपनी भूमि का एक अच्छा हिस्सा देना बडे काश्तकारो का धर्म है और उसी मे उनका बड़प्पन है।"[१]
..."इसलिए अगर प्रेम का, अहिंसा का तरीका आजमाना चाहते हो तो इन जमीनो का ममत्व छोड दो, नही तो हिंसा का ऐसा

---

१. सन्त विनोवा और भूदान-यज्ञ। सर्वोदय साहित्य-संघ, काशी से उद्घृत।

जमाना आने वाला है कि उसमें सारी जमीनें और उस जमीन पर रहने वाले प्राणी खत्म हो जाएँगे। यह समझकर कि भगवान ने यह समस्या हमारे सामने खड़ी कर दी है, भाइयो! निरन्तर दान करो...।"[1]

जन्म, बाल्यकाल और शिक्षा-दीक्षा—

विनोबा जी का जन्म ११ सितम्बर सन् १९१५ ई० को महाराष्ट्र के पेण तहसील के गागोदा ग्राम में हुआ था। इनके पिताजी का नाम श्री नरहरि शम्भुराव था और माताजी का नाम श्रीमती रुक्मिणीदेवी। परिवार का वातावरण अत्यन्त शुद्ध एवं सात्विक था। इनके माता-पिता स्वभाव से ही धर्मपरायण थे। उनके मन्दिर का द्वार सबों के लिए खुला रहता था। विनोबाजी के पूज्य दादाजी तो भगवान की मूर्ति के समक्ष भजन गाने के लिए मुसलमान संगीतज्ञों को भी आमंत्रित किया करते थे। उनका कहना था कि संसार के सभी जीव-जन्तु एक ही परमात्मा की सन्तान है। अतः किसी से ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा करने का अर्थ होगा—भगवान का अपमान करना। इन सद्गुणों से विनोबाजी को काफी सत्प्रेरणा मिली। एक बार इनकी माताजी ने कहा—"गीता को संस्कृत में समझने में कठिनाई होती है। इसका मराठी में अनुवाद नहीं है क्या?" इससे इनको मराठी भाषा में गीता को अनूदित करने की सत्प्रेरणा मिली, जिसका मराठी साहित्य मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

विनोबाजी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही सम्पन्न हुई। लगभग नौ वर्ष की उम्र में ये बड़ौदा गए और वहीं पर इनकी विधिवत् स्कूली शिक्षा की परिसमाप्ति हुई। कहते हैं,

---

१. सन्त विनोबा और भूदान यज्ञ (सर्वोदय साहित्य-संघ, काशी) से उद्धृत।

अपने कोमल स्वभाव एवं विलक्षण प्रतिभा के कारण ये विद्यालय में प्रवेश करते ही अपने गुरुजनो के स्नेह-पात्र बन गए थे। स्वाध्याय एव परिश्रम के बल पर ही विनोबाजी अपने छात्र-जीवन मे बराबर प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। इन्हे बचपन से ही समाचारपत्र एव अच्छे-अच्छे ग्रन्थ पढने का बड़ा शौक था। इनके घर मे भी एक अच्छा पुस्तकालय था। जब अपने पुस्तकालय की सारी पुस्तके इन्होने पढ डाली, तब इनका ध्यान बड़ौदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी की ओर गया। कुछ ही दिनो में इन्होने वहाँ की तमाम पुस्तको का अध्ययन कर डाला। इसके बाद इन्होने पुन: एक दिन वहाँ के पुस्तकालयाध्यक्ष से पुस्तकों की माँग की। बाध्य होकर उन्हे उत्तर देना पडा—"यहाँ जितनी पुस्तके है, क्या उनमें से एक भी पुस्तक ऐसी मिलेगी, जिसे आपने नही पढा हो ?"

विनोबाजी का क्रमबद्ध अध्ययन हाई स्कूल तक ही सीमित रहा। गणित इनका सर्वप्रिय विषय था। इस सम्बन्ध मे काका साहब कालेलकर की उक्ति उल्लेखनीय है—"वे आत्म-निष्ठ हैं और गणिती है। वे किसी के अनुयायी नही है, हालाँकि भाष्य-कार आद्य शकराचार्य, महाराष्ट्र के आदि सत कवि श्री ज्ञानेश्वर तथा सत्याग्रह के आदि ऋषि महात्मा गाधी—तीनो के प्रति उनमे असीम आदर और असाधारण भक्ति है।...श्री विनोबा गणिती है। हिसाब लगाये बिना न कुछ पढते है, न कुछ सोचते है, न कोई काम हाथ में लेते है। गणिती होने के कारण वे अच्छे अध्यापक बने। गणिती होने के कारण ही खादी-शास्त्र को वेग दिया। गणित-बुद्धि से ही उन्होने 'स्वराज्य-शास्त्र' लिख पाया। गणित-बुद्धि का विकास होकर ही इनमें दार्शनिकता आ गई है। बुनियादी व्यवहार के प्रति इनमे जो उदासीनता दिखाई देती है, वह भी गणित-बुद्धि मे से ही फलित हुई है। धीरज भी

इनमें इसी गणित-निष्ठा से आ गया है।"

यहाँ यह भी जान लिया जाय कि इन्टर की परीक्षा देने के के लिए विनोबाजी को बम्बई जाना था, किन्तु वहाँ न जाकर ये बंगाल चले गए और फिर वहाँ से बनारस। यही से इन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना की यात्रा प्रारम्भ की।

स्वाधीनता संग्राम की ओर बढ़ते चरण—

विनोबा भावे ने सर्वप्रथम ६ जून सन् १९१६ ई० को अहमदाबाद आश्रम में महात्मा गांधी के दर्शन किए। आश्रम-निवासियों के सादा जीवन एवं उच्च विचार का प्रभाव इनके मानस पर बहुत गहरा पड़ा। अतः बापू के आग्रह पर ये कुछ दिनो के लिए उनका विशेष अतिथि बनकर वही पर रह गए। कालक्रमानुसार इनका भी विचार यही हुआ कि आश्रम-निवासी बनकर ही जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर होगा। कारण-इन्होंने महात्मा गांधी के अधिकाश सहयोगियों मे सादगी, सच्चाई, ईमानदारी, सेवा एवं देशभक्ति की पवित्र भावना का अनुभव किया। साथ ही सबो में मन, वचन और कर्म की एकरूपता भी देखी। फलतः इस महान् आत्मा ने भी आश्रम में निवास करने की अपनी प्रबल इच्छा महात्मा गांधी के समक्ष प्रकट कर दी। इस दुर्लभ व्यक्तित्व और नैष्ठिक ब्रह्मचारी की अकस्मात् उपलब्धि से बापू को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, इसकी तो कल्पना भी नही की जा सकती।

जब विनोबाजी आश्रम-निवासी बन गए, तब बापू ने उनके माता-पिता के पास एक पत्र लिखा, जिसके महत्वपूर्ण अंग निम्नलिखित है—"विनोबा मेरे साथ हैं। आपके पुत्र ने (उसकी अवस्था को देखते हुए) चरित्र की असाधारण उज्ज्वलता और साधुता प्राप्त की है। मुझे इनकी उपलब्धि के लिए कई वर्षों

तक कठोर आत्मसयम करना पडा था।" ऐसा कहा जाता है कि बापू ने इस पत्र मे इनके वास्तविक नाम 'विनायक' की जगह पर 'विनोवा' लिखा था, तभी से सारा ससार इन्हे विनोबा के नाम से जानने लगा।

यहाँ इस महान् ऋषि के जीवन की एक और घटना उल्लेखनीय है। कुछ दिनो तक आश्रम मे निवास करने के बाद इनकी हार्दिक इच्छा सस्कृत पढने को हुई। अतः गाँधीजी से आज्ञा लेकर ये आश्रम से बाहर चले गए और लगभग एक वर्ष तक विभिन्न स्थानो का पर्यटन करने के साथ-साथ इन्होने सस्कृत साहित्य का विधिवत् अध्ययन भी किया। इस सम्बन्ध मे विनोबाजी ने बापू के पास एक पत्र भी लिखा था, जिससे इनके प्रारम्भिक अध्ययन एवं अध्यात्म-साधना की सच्ची झलक मिलती है।

इनके प्रारम्भिक अनुशीलन-विधान की सम्यक् जानकारी के लिए इनके पत्र का एक अश नीचे उद्धृत कर रहा हूँ—

"... मैं जब दस साल का था, तभी मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए देश-सेवा करने का व्रत लिया था। उसके बाद मैं हाई स्कूल मे दाखिल हुआ। उस समय मुझे गीताजी का शौक लग गया, लेकिन पिताजी ने दूसरी भाषा के तौर पर फ्रेंच भाषा लेने की आज्ञा दी। तो भी गीता-माँ का प्रेम कम नही हुआ था और तभी से मैंने घर पर ही खुद-ब-खुद सस्कृत का अभ्यास शुरू कर दिया था। मेरा निश्चय था कि वेदान्त और तत्त्वज्ञान का भी अभ्यास करूँ। मैं आपकी आज्ञा लेकर आश्रम मे दाखिल हुआ, पर उसी समय वेदान्त का अभ्यास करने का अच्छा मौका हाथ लगा। वाई मे नारायण शास्त्री मराठे नामक एक आजन्म ब्रह्मचारी विद्वान् विद्यार्थियों को वेदान्त और दूसरे

शास्त्र पढाने का काम करते हैं। उनसे उपनिषद् पढ़ने का लोभ मुझे हुआ। इस लोभ के कारण वाई में मैं ज्यादा दिन रह गया। इतने दिनो में मैंने क्या-क्या किया, यह लिखता हूँ···।" और उन्होने लिखा कि उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र और शंकर-भाष्य, मनुस्मृति, पातंजल योगदर्शन, न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ग्रंथों का अभ्यास कर रहा हूँ तथा बाहर रह कर भी आश्रम-जीवन ही व्यतीत करता हूँ आदि।

—श्री कृष्णदत्त भट्ट (बाबा-विनोबा)

एक वर्ष के बाद विनोबाजी पुन. आश्रम में लौट आए और पूर्ववत् अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इस महान् तपस्वी और निष्काम कर्मयोगी ने देश की आजादी के लिए जितनी यातनाएँ झेली हें, उनका वर्णन शब्दों के माध्यम से नही किया जा सकता। सन् १९२३ के नागपुर झंडा-सत्याग्रह के समय इन्हें जेल जाना पड़ा, फिर १९२० ई० मे नमक सत्याग्रह आन्दोलन के समय भी और सन् १९३२ ई० के आन्दोलन के समय भी इस महान् मनीषी को जेल की यातनाएँ भुगतनी पड़ीं। यही पर (सन् १९३२ में विनोबाजी धुलिया जेल में रखे गए थे।) इस महर्षि ने अपने साथियो की बीच 'गीता' पर प्रवचन दिया, साने गुरुजी (विनोबाजी के एक शिष्य) ने इनके प्रवचन को अक्षरशः अपनी कॉपी पर नोट किया, जो बाद में 'गीता-प्रवचन' नामक एक विशाल ग्रन्थ के रूप में सारे संसार में सुविख्यात हुआ।

जब १९४० मे व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया गया, तब महात्मा गांधी ने सर्वप्रथम विनोबाजी को ही इस काम के लिए चुना, और युद्ध के विरुद्ध भाषण देने की आज्ञा दी। जब विनोबाजी अंग्रेजो की काल-कोठरी में बन्द कर दिए

गए, तव सारे संसार में हल्ला हुआ, यह विनोवा कौन है ? और तब गाँधीजी ने 'हरिजन' अखवार में विनोबाजी पर लेख प्रकाशित कर सारे ससार को वताया कि यह विनोबा कौन है—

"विनोवा कौन है, तथा वह सबसे पहले क्यो चुने गए ? विनोवा वी० ए० में पढ़ते थे, पर उन्होंने सन् १६१५ मे मेरे भारत आने पर कालेज छोड़ दिया। वह संस्कृत के विद्वान् हैं। उन्होने आश्रम के आरम्भिक दिनो मे ही इसमें प्रवेश किया। वह इसके प्रथम सदस्यो में है। उन्होने सस्कृत का अध्ययन करने के लिए आश्रम से एक वर्ष की छुट्टी ली। एक वर्ष की समाप्ति के वाद बिना कोई सूचना दिए वह फिर आश्रम मे आ गए। मैं यह भूल ही गया था कि वह उस दिन आने वाले है। उन्होने आश्रम की सभी श्रमिक प्रवृत्तियो मे भाग लिया है तथा मैला साफ करने से लेकर रसोई पकाने तक का काम किया है। यद्यपि उनकी स्मरणशक्ति आश्चर्यजनक है तथा वह स्वभावतः विद्यार्थी है, फिर भी वह अपना अधिकांश समय सूत कातने में लगाते है तथा इस कार्य मे उन्होने विशेषज्ञता प्राप्त करली है। उनका विश्वास है कि सर्वत्र सूत कातने को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इससे गाँवो की निर्धनता दूर होगी। वह जन्म-जात शिक्षक हैं, तथा उन्होने आशादेवी की हस्तकला के माध्यम से शिक्षा-प्रणाली का विकास करने के कार्य मे वडी सहायता की है। उन्होने अपने हृदय से अस्पृश्यता का सर्वथा निराकरण कर लिया है। वह साम्प्रदायिक एकता मे मेरे समान ही विश्वास करते है। इस्लाम के तत्त्व को समझने के लिए उन्होने कुरान के मूलरूप का अध्ययन करने मे एक वर्ष लगाया।

तीन महीने के वाद विनोवाजी जेल से मुक्त कर दिए गए। किन्तु वाहर आते ही इन्होंने पुनः सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया।

परिणाम यह हुआ कि इस वार इन्हे छः माह की सजा दी गई। और जेल से वाहर आने के वाद जव ये पुनः स्वाधीनता का वातावरण वनाने लगे, तव इनकी अलौकिक प्रतिभा और जनता पर इनके विलक्षण प्रभाव को देखकर अग्रेजो ने पुनः इन्हे एक साल के लिए जेल मे वन्द कर दिया।

जव १९४२ का 'भारत छोडो' आन्दोलन प्रारम्भ किया गया, तव विनोवाजी ने जी खोलकर उसमे भी भाग लिया और ९ अगस्त को गिरफ्तार होकर फिर अग्रेजो की कालकोठरी में वन्द हो गए। इस वार इन्हे तीन साल तक जेल में ही आश्रम का जीवन व्यतीत करना पड़ा।

इन प्रकार १५ अगस्त १९४७ को भारत आजाद हुआ। ३० जनवरी १९४८ को राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी इस संसार-सागर से विदा हुए, उसी वर्ष १३ मार्च को देश के रचनात्मक कार्यों मे लगे हुए सभी भाई-वहनो की एक सभा वुलाई गई, सर्वसम्मति से 'सर्वोदय-समाज' एवं 'सर्व-सेवा-सघ' की स्थापना की गई, और फिर योजनानुसार नये ढंग से रचनात्मक कार्यो को प्रारम्भ किया गया।

समय और परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए विनोवाजी ने शरणार्थियो की सेवा की, वीकानेर जाकर वहाँ के मंदिरो में आम जनता को ईश्वर-दर्शन के अधिकार दिलवाए, हैदरावाद जाकर हिन्दू-मुसलमान के वीच स्नेह-सूत्र का काम किया, और फिर आश्रम मे लौटकर 'काञ्चन-मुक्ति' का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

कुछ दिनों के वाद इन्होने भू-दान आन्दोलन प्रारम्भ किया, देश के कोने-कोने में जाकर स्वाधीनता-यज्ञ के चरणामृत वाँटे

और गाँव-गाँव मे जाकर भूमिपतियो से भूमिहीनो के लिए जमीनों की माँग करना प्रारम्भ कर दिया । इस अभूतपूर्व यज्ञ-यात्रा में भारतमाता के इस अनोखे लाल का देश से तमाम नागरिको की ओर से शानदार स्वागत किया गया और अधिकाश किसान-बन्धुओ ने स्वेच्छा से जी खोल कर जमीन देना प्रारम्भ कर दिया । आज भी इस महान् शिक्षाविज्ञ निष्काम कर्मयोगी का ध्यान भू-दान आन्दोलन की ओर ही लगा है और इसी शाश्वत यज्ञ के माध्यम से ये अखिल विश्व-जन-मानस का कल्याण करना चाहते हैं, सर्वोदय ही इस महर्षि का अन्तिम साध्य है ।

जीवन-दर्शन—

विनोवाजी सत्य, अहिंसा और प्रेम के अन्यतम पुजारी हैं . इनके अनुसार सत्य ही एक नैतिक तत्त्व है और वाकी के सारे नैतिक गुण नही है, सामान्य गुण या दोष है । सत्य को छिपाने से समाज में भ्रष्टाचार फैलता है और कोई भी व्यक्ति सत्य को इसलिए छिपाता है कि उसे समाज की ओर से अपने दुष्कृत्य-पूर्ण आचरण के लिए दण्डित होने का भय रहता है । अतः विनोवाजी का कहना है कि समाज में जितनी वुराइयाँ हैं उन सबों के लिए उपचार ही होना चाहिए, दण्ड नही । यह वात समाज मे रूढ हो जाए तो आसानी से मन दुरुस्त हो सकता है और समाज वदल सकता है ।

सत्य की पूर्ति के लिए दूसरे गुण की भी आवश्यकता होती है । यदि कोई भी व्यक्ति सत्य वोलता है तो समाज मे उसकी निन्दा होती है । अत. सत्य वोलने वालो मे इतनी हिम्मत होनी चाहिए कि वे समाज की निन्दा को वरदाश्त कर सके । इसी

को विनोवाजी ने 'निर्भयता' कहकर सम्वोधित किया है। इनके अनुसार सत्य मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, अतः किसी की निन्दा से दु.खी होकर सत्याचरण का परित्याग करना उचित नही—"सत्य-रक्षा के लिए निर्भयता की जरूरत है। जो कुछ होता है, होने दो; कोई हमारी कितनी भी निन्दा करे, हम सत्य ही वोलेगे, ऐसा निश्चय करने की आज जरूरत है। किन्तु वास्तव मे सत्य तो स्वाभाविक है।"

सत्य साध्य है और अहिंसा साधन, अतः अहिंसात्मक तरीके से ही सत्य का शोधन किया जा सकता है। अहिंसा की खोज करना ही उनका जीवन-कार्य है। वे 'प्रज्ञा की स्थिरता' को अहिंसा का सार मानते है। स्थितप्रज्ञ वनने के लिए चित्त की शान्ति, मन की प्रसन्नता एव अहिंसक साधनों [यहाँ पर ध्यान देने योग्य वात यह है कि विनोवाजो ने अहिंसक साधनों का प्रयोग किया है, यानी अहिंसक साधनो के प्रति भी आसक्ति न हो—यही है अहिंसा का चरमोत्कर्ष या पूर्ण अहिंसा] के परित्याग को वे आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार अहिंसा का वास्तविक विकास निष्काम भाव से ही सम्भव है। अतः वे हमें सुझाव देते हैं—"अहिंसा का विकास करने के लिए मुझे 'मुक्त' ही रहना चाहिए। 'मुक्त' का मतलव 'कर्ममुक्त' या 'कार्यमुक्त' से नही, किंतु विभिन्न सस्थाओ के काम-काज से मुक्त रहना है…।"

जहाँ तक प्रेम का सम्वन्ध है, 'प्रेम' को विनोवाजी ने नारायण-धर्म' या 'भागवत-धर्म' कहकर सम्वोधित किया है। उनके अनुसार मनुष्य का शरीर परमेश्वर का प्रसाद है, जो उसे समाज की सेवा करने के लिए ही मिला है, अतः तन, मन, धन से हमें समाज-सेवा में तल्लीन हो जाना चाहिए। २१-४-'५३ को

पकरी परवाँ [बिहार] की एक जन-सभा मे व्याख्यान देते हुए उन्होने कहा था—"प्रेम एक महान् धर्म है, जिसमे सारे धर्म डूब जाते है। सूरज का प्रकाश जहाँ फैलता है, वहाँ सारे तारे खत्म हो जाते है। वैसे ही प्रेम-धर्म के प्रकाश के सामने दूसरे सारे धर्म क्षीण हो जाते है। आज वही प्रेम-धर्म लाना है। समाज देवता है और व्यक्ति को उसकी पूजा करनी है। नारायण की सेवा करने के लिए नर-देह मिली है। नारायण यानी नरो का समुदाय। नारायण की सेवा को—जिसे आप भक्ति-मार्ग कहो या और भी कुछ—मैं तो 'नारायण-धर्म' या 'भागवत-धर्म' कहूँगा। वही धर्म मै लाना चाहता हूँ। मेरा-तेरा, मेरी इस्टेट, तेरी इस्टेट—सारे भेद मिटाने है।"

भू-दान यज्ञ और सर्वोदय—

सर्वोदय-धर्म को विनोबाजी ने सर्वोत्कृष्ट धर्म माना है। हिन्दू-धर्म, मुस्लिम-धर्म, ईसाई-धर्म आदि जितने भी धर्म-सम्प्रदाय है, सर्वोदय के अन्तर्गत सभी आ जाते है। विनोबाजी का कहना है कि—"सर्वोदय के अन्दर दुनिया के सब-के-सब धर्म आ जाते है। यह कोई नया धर्म स्थापित नही कर रहा हूँ। यह तो सर्व-धर्म-समन्वय हो रहा है—हर एक धर्म मे जो-जो अच्छाइयाँ है, वे सब खीचकर ले लेगे।"

इस प्रकार भू-दान यज्ञ, ग्रामोद्योग, उपज मे वृद्धि करना आदि सभी धर्म-विचार है, जो सर्वोदय के लिए कार्यरूप मे परिणत किए जाने के लिए अति आवश्यक है।

सर्वोदय विचार मे दो बुनियादी बाते मानी गई है—

(१) रोजमर्रा की सारी चीजें—खाना, कपड़ा आदि—गाँव में ही पैदा हो। छोटे-छोटे उद्योगो के जरिए लोग स्वावलम्बी

बनें। जो काम घर में हो सकते हैं—जैसे रसोई, कताई, आदि, वे घर मे हों और जो गाँव में हो सकते है—जैसे तेल, जूता आदि—वे गाँव मे हों और (२) लोहा, कोयला, अभ्रक के जैसे बडे-बड़े धन्धे जिनका सम्बन्ध न सिर्फ सारे देश के, बल्कि सारी दुनिया के साथ है—किसी व्यक्ति को व्यक्तिगत मिल्कियत के न रहें। उन पर समाज की मिल्कियत हो। इसके बगैर सर्वोदय नही हो सकता।"[1]

विनोबाजी समाज को शासन से मुक्ति दिलाना चाहते हैं। उन्हे पूर्ण विश्वास है कि व्यवस्था और सत्ता के विकेन्द्रीकरण के द्वारा शासन-मुक्ति की ओर सफलतापूर्वक और आसानी से बढा जा सकता है। अत. 'नैतिक नियमन' और 'आत्म-निर्भरता' पर जोर देते हुए वे कहते है—"अंतिम स्थिति में कोई शासन नही रहेगा। ऐसा आत्म-निर्भर समाज निर्माण करने के लिए सर्वत्र स्वयपूर्ण क्षेत्र बनने चाहिए। उत्पादान, विभाजन, रक्षण, शिक्षण जहाँ का है, वही हो। केन्द्र में कम-से-कम सत्ता रहे। इस तरह हम प्रादेशिक स्वयपूर्णता मे से विकेन्द्रीकरण साध लेंगे।"

जहाँ तक भू-दान यज्ञ का प्रश्न है, विनोबाजी भू-दान यज्ञ को 'एक शुद्ध-धर्म-कार्य' मानते है। यह उनका एक अहिंसात्मक प्रयोग है, जीवन-परिवर्तन का प्रयोग, जो वे परमपिता परमेश्वर की प्रेरणा से कर रहे है। उनका कहना है कि जिस प्रकार हवा, पानी एव सूर्य का प्रकाश आदि ईश्वर-प्रदत्त प्राकृतिक वस्तुएँ है, उसी प्रकार भूमि भी परमात्मा-प्रदत्त वस्तु है। भगवान अपनी वस्तुओं का विषम बँटवारा करना नही चाहता। अतः इस पर सबों का समान अधिकार होना चाहिए। भारत

---

१. आचार्य विनोबा भावे—भूदान-गंगा (द्वितीय खंड) पृ० ३८

और भारतवासियो की ओर सकेत करते हुए एक बार उन्होने कहा था—"देश मे करीब ३० करोड एकड़ जाती जाने वाली जमीन है। मैने उसका १/६ यानी ५ करोड एकड़ मॉगा है क्योकि एक भारतीय परिवार मे साधारण पाँच सदस्य रहते है। उस परिवार का छठा सदस्य दरिद्रनारायणात ही है। इसलिए उस भूमिहीन जनता के लिए मैने छठे हिस्से की माँग की है।" और इसीलिए लोगो से मै कहता हूँ कि "मुझे परिवार का एक सदस्य मानो। आप लोग यह सोचे कि मै भी घर का एक लडका हूँ और तुम मेरा हक दो।"

लेकिन, यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि वे भू-दान के लिए किसी पर दबाव डालना नही चाहते। वे सामान्य नागरिको से हृदय-परिवर्तन, मैत्री-भाव, मातृ-वात्सल्य, भ्रातृ भावना एव गरीबो के लिए प्रेम की आशा रखते है। भू-दान मे सम-विभाजन के महत्त्व की चर्चा करते हुए वे कहते है—

"भू-दान मे केवल दान का महत्त्व नही है, सम-विभाजन का महत्त्व है। दान का अर्थ ही सम-विभाजन होता है। 'दान सविभाग"। हमे दान की यही कल्पना शुरू करनी है। समाज और परिवार का एक अश मानने की बात लोगो को समझानी है। समाज अपने कुटुम्ब का एक हिस्सा है, इस भावना से दान देने की लोगो को प्रेरणा होनी चाहिए। जो भूमिहीन है, उनका भूमि पर अधिकार है, ऐसा समझकर दान देना चाहिए। भूमिहीनो पर उपकार करने की भावना से नही। अच्छी कल्पना पर अम्ल करने से कभी किसी का नुकसान हुआ ही नही। अगर हमारे विचारो पर दृढता से अमल करेंगे, तो हम जो सर्वोदय लाना चाहते है वह आ सकता है, शान्तिमय क्रान्ति हो सकती है।"

—सन्त विनोबा और भू-दान यज्ञ, पृ० ३८

शिक्षा-दर्शन—

विनोवाजी का शिक्षा-दर्शन भी उनके सर्वोदय-सिद्धान्त पर ही आधारित है। वे शिक्षा के माध्यम से ऊँच-नीच, धनी-गरीब, जात-पाँत आदि के भेद-भाव को समूल नष्ट करना चाहते हैं। उनका कहना है कि शिक्षा-प्रणाली ऐसी हो जिसके माध्यम से बच्चो को स्वावलम्बी बनाया जा सके और प्रारम्भ से ही वे अपने उत्तरदायित्व को समझने मे सक्षम हों।

विनोवाजी ने शिक्षा-जगत् को नई तालीम की नवीनतम योजनाएँ दी है। उनका कहना है कि "नई तालीम का मतलब है नित्य नये समाज की रचना करने वाली तालीम।" उनके अनुसार "नई तालीम तभी आ सकती है, जब कर्म और ज्ञान का भेद मिट जाए।" वे कर्त्तव्य के सहारे बच्चो को शिक्षा देने के पक्ष मे है। जिस प्रकार राम-लक्ष्मण ने यज्ञ की रक्षा करते हुए गुरु विश्वामित्र से जीवन की शिक्षा ग्रहण की, जिस प्रकार पृथा-पुत्र अर्जुन ने युद्ध के मैदान मे जाकर भगवान श्रीकृष्ण से जीवन की शिक्षा ली, उसी प्रकार आधुनिक विद्यार्थियो को भी कर्मभूमि में ले जाकर जीवन की शिक्षा दी जानी चाहिए। विनोवाजी ने लिखा है—"शिक्षा कर्त्तव्य का, कर्म का आनुषगिक फल है। जो कोई कर्त्तव्य करता है, उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लडको को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लडकों में आज उतनी शक्ति नही आयी है, इसलिए उनके आस-पास ऐसा वातावरण बनना चाहिए कि वे ठोकरें न खाने पायें और धीरे-धीरे वे स्वावलम्बी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए।"

—आचार्य विनोवा भावे : जीवन और शिक्षण

इस प्रकार विनोबाजी ज्ञान के विषय में भी विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाना चाहते है। उनकी सलाह है कि शिक्षण-विधि ही ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थी दूसरो के अनुभव एवं अपने अनुभव से ज्ञान प्राप्त कर स्वयमेव प्रयोग कर सके। वे १६ साल तक विद्यार्थियो को ज्ञान में पूर्ण स्वावलम्बी बना देने के पक्ष मे है—

"शिक्षण की योजना ऐसी हो, ताकि १६ साल का लड़का ज्ञान मे स्वावलम्बी हो सके, डिक्शनरी है, नये गाइड की पुस्तके है, शिक्षण-शास्त्र के ग्रन्थ है, उन्हें वह अपनी-अपनी भाषा में पढ सके, अपने प्रयत्न से, दूसरो की मदद के बिना सीख सके, अपने प्रयोग कर सके और सृष्टि से ज्ञान हासिल कर सके। जैसे भूमि मे पानी होता है, वह खोदने से बाहर आता है, वैसे ही समाज और सृष्टि मे से खोद-खोद कर ज्ञान का पानी निकालना चाहिए। ऐसी अक्ल लड़को को १६ साल की आयु में आनी चाहिए।"[1] तात्पर्य यह है कि १६ साल के बाद विद्यार्थियो को ज्ञान मे परावलम्बी नही होना चाहिए।

जहाँ तक शिक्षण-पद्धति का प्रश्न है, विनोबाजी ने अपनी तालीम मे समवाय-पद्धति को सर्वोच्च स्थान दिया है। वे ज्ञान और कर्म के सम्मिलन को समवाय कहते है—"कर्म मे से व्यायाम, कर्म मे से ज्ञान, कर्म से आनन्द, कर्म ही खेल—यह है समवाय।" उनके अनुसार उद्योग ही समवाय-पद्धति का आधार है—"उद्योग से शिक्षा को गरमाहट मिले और शिक्षण से उद्योग पर प्रकाश डाला जाए, इसका नाम है समवाय-पद्धति।" समवायी शिक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत मूलोद्योग, गणित, समाज-

---

१—आचार्य विनोबा भावे—भूदान-गगा (अष्टम खड) पृ० ७७

अध्ययन, संगीत, ड्राइंग आदि सभी विषयो को समुचित स्थान प्रदान किया गया है।"

वे ग्रामीणो को 'सृष्टि-पूजक' या 'परमेश्वर सेवक' और शहर के लोगो को 'ग्राम-सेवक' बनाने वाली शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्व देते है। वे हर गाँव मे सम्पूर्ण तालीम की व्यवस्था करने के पक्ष मे है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि विनोबा जी हर गाँव मे विद्यापीठ की स्थापना करने के आकांक्षी हैं। चूँकि प्रत्येक गाँव का सृष्टि के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, अत. हर तरह से मनुष्य को वहाँ सृष्टि-विज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। अतएव शिक्षा-प्रणाली की योजना यह समझकर बनायी जानी चाहिए कि 'हरएक गृहस्थ का घर है 'स्कूल' और उसका खेत है, 'प्रयोगशाला'। हरएक वानप्रस्थ है, 'शिक्षक' और हर-एक परिव्राजक सन्यासी 'यूनिवर्सिटी'। विद्यार्थी है, 'आज के बच्चे', जो सीखना चाहते हैं।"

जहाँ तक पाठशाला एवं समाज में सम्बन्ध का प्रश्न है, वे दोनो में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में है। इस सम्बन्ध मे उनका सुझाव है कि "एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाजशास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब का निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे।"

विनोबाजी ने शिक्षण संस्थाओं पर सरकारी नियन्त्रण का विरोध किया है। वे इस बात को बार-बार दुहराना चाहते हैं कि शिक्षण का अधिकार ज्ञानियों के हाथों में होना चाहिए, न कि सरकार के हाथों में। यह काम सेवापरायणता से ही संभव है। लेकिन सरकार कभी भी सेवापरायण नही हो सकती, वह तो

अपनी नीति और अपने सिद्धान्तो के अनुकूल ही आचरण करेगी। "अगर सरकार 'फासिस्ट' होगी, तो कुछ विद्यार्थियों को 'फासिज्म' सिखलाया जाएगा। सरकार 'कम्युनिस्ट' होगी, तो 'कम्युनिज्म' का प्रचार होगा। सरकार 'पूँजीवादी' होगी, तो 'पूँजीवाद' की महिमा बतायी जाएगी, और यदि सरकार 'प्लानिगवादी' होगी, तो 'प्लानिग' की कहानी विद्यार्थियो को सिखायी जाएगी। इससे अधिक खतरा और हो ही नही सकता।" तात्पर्य यह कि वे शिक्षण-विभाग को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रखना चाहते है। कारण, बुद्धि-स्वातन्त्र्य ही सच्चा स्वातन्त्र्य है, जो सरकारी नियन्त्रण से पूर्णत विनष्ट हो जाता है। फलतः विद्यार्थियो का स्वाभाविक विकास नही हो पाता।

विनोबाजी ने शिक्षक और विद्यार्थियो मे पिता-पुत्र का सा सबंध स्थापित करने का सुझाव दिया है। उन्होने अपनी पाठशाला-योजना में सेवापरायणता को ही शिक्षक और विद्यार्थी—दोनों की साधना का लक्ष्य माना है—"शिक्षक विद्यार्थी-परायण, विद्यार्थी शिक्षकपरायण, दोनो 'ज्ञानपरायण और ज्ञान सेवा परायण—हमारी पाठशाला की यही योजना है (For the students the service of the Guru, for the Guru the service of the students—this must be the one all sufficient purpose, the single goal, and both Guru and students should experience this service as their common service of God)।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि युग-पुरुष आचार्य विनोबा भावे का स्थान ससार के महान् शिक्षाशास्त्रियों की प्रथम श्रेणी में

---

१. Acharya Vinoba Bhave—Thoughts on Education, p. 159

आता है। रूसो से लेकर महात्मा गांधी तक के तमाम शिक्षा-शास्त्रियों के शिक्षा-दर्शन पर सम्यक् अनुशीलन करने के बाद इन्होने बेसिक-शिक्षा-जगत् को जो आधुनिकतम एवं प्रयोगात्मक विचार प्रदान किए है, इसके लिए संपूर्ण शिक्षा-जगत् अनन्त-काल तक इनका आभारी रहेगा।

●

५ डॉ० जाकिरहुसेन

नि सन्देह मनुष्य का जीवन बडा दुर्लभ है, लेकिन उसके दुर्लभ जीवन की सार्थकता तबतक सिद्ध नही होती, जबतक वह विश्वात्मा के सृष्टि-विधान की रक्षा के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग नही करता। जो व्यक्ति सीमित दायरे से निकलकर मानव-समूह की ओर देखता है, जो समूह-साधना को ही अपने निजी जीवन की साधना समझता है, और जिसकी दृष्टि मे सम्पूर्ण समाज का कल्याण ही उसमे अन्तर्निहित इकाई का कल्याण है वही व्यक्ति महान् है, उसे ही हम महान् आत्मा की उपाधि से विभूषित करते है।

डॉ० जाकिरहुसेन भी एक ऐसे ही महान् व्यक्ति थे— उन्होने राष्ट्रीय आत्मा की मुक्ति के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन के सुख-सौरभ का निर्ममतापूर्वक परित्याग किया, उनकी व्यक्तिगत साधना ने कालक्रमानुसार समूह-साधना का रूप धारण किया, उन्होने अपने आचरण एव मानव-प्रेम के सहारे सारे ससार को राष्ट्रीय एकता एव धर्मनिरपेक्षता की शिक्षा और आज भी उस महान् आत्मा के अन्त.करण से नि.सृत पीयूषधारा भारत के तमाम पथभ्रष्ट नागरिको को महात्मा गाँधी की याद दिलाते हुए अपने देश, धर्म और जननी की

मर्यादा-रक्षा के लिए जागृत कर रही है—

"गांधीजी के दिल में सब मजहबों के लिए समान आदर था—एक ऐसा आदर जो हर मजहब के लोगों को भाईचारे और मुहब्बत के एक डोरे मे बाँध सके। हमदर्दी और मुल्क की भलाई के ख्याल से ही उन्होने एक ऐसे राजनीतिक और सामाजिक ढाचे का सपना देखा था जो अल्पसख्यकों के दिल में भरोसा पैदा कर सके और सतोष और साहस के साथ उन्हे देश की सेवा मे लग जाने के लिए बढावा दे सके।

· ··· देश में अब मजदूरो की हड़ताल, विद्यार्थियो के आन्दोलन, तरह-तरह के मजहबी और भाषाई झगडो से एक तरह से नाराजगी और असंतोष-सा फैला हुआ है। हम उन्ही चीजो की ओर सोचते है जिन्हे दूसरो ने हमारे लिए नही किया है, या जिन्हे दूसरों ने बुरे ढग से किया है या इस खूबी के साथ नही किया जिस खूबी के साथ हम समझते है कि किया जाना चाहिए। ·····मैं यही कहना चाहता हूँ कि हरेक स्तर और क्षेत्र में अन्दरूनी अनुशासन और नैतिकता का बल हो। हमारी सीमित शक्ति का एक बहुत बडा हिस्सा हम फिजूल के कामों मे क्यो खर्च करे? आज के इस मुबारिक मौके पर मैं भारत के हर नागरिक से दिल से अपील करता हूँ कि वह अपने फर्ज को ईमानदारी से पूरा करे और सहयोग की आवश्यकता को अच्छी तरह समझे। हममे से हरेक को अपने राष्ट्र और अपनी जनता के प्रति वफादार होना चाहिए, तभी हम अपने कौमी मकसदों और मनसूबों को मजबूत बना सकेंगे, और हम जरूर यह करके रहेंगे।"[१]

१— गणतन्त्र दिवस के शुभ अवसर पर किए गए भाषण का एक अंश।

जन्म, बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा—

डा० जाकिरहुसेन का जन्म १८९७ ई० के फेरवरी महीने में हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) मे हुआ था। इनके पिता का नाम फिदाहुसेन खाँ था। वे हैदराबाद कोर्ट में एक सुप्रसिद्ध वकील थे। अपने परिश्रम एव प्रतिभा के बल पर ही वे आगे चलकर मुन्सिफ एवं मजिस्ट्रेट के पद पर भी सुशोभित हुए। उनके आठ पुत्र थे जिनमे जाकिरहुसेन खाँ का स्थान तीसरा था। ये बचपन से ही बडे प्रतिभाशाली और होनहार थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा हैदराबाद के ही एक स्कूल मे सम्पन्न हुई जिसे आजकल 'सुल्तान बाजार गवर्नमेंट हाई स्कूल' के नाम से जाना जाता है।

फिदाहुसेन खाँ के परिवार पर अंग्रेजी सभ्यता की गहरी छाप पडी थी। फलतः उनका रहन-सहन भी उसी ढग का था। इसीलिए बालक जाकिर का शैशव भी राजकुमार की तरह ही खिला; लेकिन, दुर्भाग्यवश जिस समय इनकी उम्र सिर्फ ९ वर्ष की ही थी, उसी समय इनके पूज्य पिताजी का देहावसान हो गया, और इनके लालन-पालन का पूरा भार इनकी विधवा माता पर ही पड़ा।

बालक जाकिरहुसेन की माताजी भी काफी प्रतिभाशालिनी थी। उनके वात्सल्य-प्रेम का तो कहना ही क्या। पति की मृत्यु के बाद भी उन्होने अपनी सन्तानो को किसी तरह का कष्ट नहीं होने दिया। जब उन्होने अनुभव किया कि हैदराबाद में रहकर बच्चो की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध नही किया जा सकता है, तब ये फरुखाबाद जिले के कायमगंज शहर में चली गईं, और वही पर स्थायी रूप से रहकर अपने बच्चो का

लालन-पालन भी करने लगी।[1]

बालक जाकिरहुसेन का नाम इटावा के इस्लामिया हाई-स्कूल मे लिखाया गया। कुछ ही दिनो के बाद इन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा एव विनम्रता के बल पर उस स्कूल में भी अच्छी ख्याति प्राप्त करली। विद्यार्थी तो क्या, सहृदय शिक्षक बन्धु भी इनकी गद्य-लेखन-शैली एव वाक्-पटुता की भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे। वहाँ के प्रधानाध्यापक, श्री एस० ए० हुसेन एवं व्यवस्थापक श्री ए० बशीर तो इनको अपने पुत्र की तरह प्यार करने लगे थे।

किन्तु बालक जाकिरहुसेन की प्रतिभा के सूर्योदय के समय ही विधाता ने उनसे उनकी ममतामयी माताजी का स्नेहाचल भी छीन लिया। सन् १९११ में प्लेग का एक भयंकर विस्फोट हुआ, और उनकी माताजी उसी विस्फोट मे स्वर्ग सिधार गई। तदुपरान्त उनकी जान-पहचान हसनशाह नामक एक सूफी से हुई। ऐसा कहा जाता है कि माताजी की मृत्यु के बाद जाकिर हुसेन के जीवन को सन्मार्ग की ओर उन्मुख करने मे हसन साहब का बहुत बड़ा हाथ था। उन्ही के सम्पर्क मे आने से ये शिक्षा-जगत् की ओर अबाध गति से अग्रसर हो सके, अन्यथा इनकी जीवन-शक्ति किस ओर मुड़ती, इसके सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता। किन्तु कुछ ही दिनो के उपरान्त हसन शाह का भी देहावसान हो गया। और तब ये कठिनाइयो के साथ

१—ज्ञातव्य है कि डा० जाकिरहुसेन का जन्म अफगान परिवार में हुआ था। उनके पूर्वज उत्तर प्रदेश के फरुखाबाद जिले के कायम-गंज शहर में रह रहे थे। किन्तु, जब इनके पिता, एक अच्छे वकील बन गए, तब हैदराबाद मे ही उन्होंने अपना मकान बनाया, और स्थायी रूप से वही रहने लगे।

सघर्ष करते हुए आत्मवल के सहारे ही अपनी मजिल की ओर वढने लगे।

मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद सन् १९१३ ई० मे जाकिरहुसेन ने अलीगढ के 'मोहमडन एग्लो-ओरिएन्टल कालेज' मे नाम लिखाया। वहाँ पहले से ही इनके दो भाई, मुजफ्फरहुसेन खाँ और आविदहुसेन खाँ विद्याध्ययन कर रहे थे। वे लोग भी अपनी विलक्षरण प्रतिभा के कारण विद्यार्थियो एव शिक्षको के बीच काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

किशोर जाकिर ने भी कालेज मे प्रवेश करते ही अपनी प्रतिभा का प्रकाश चारों तरफ फैला दिया। कालेज मे भी इनका रहन-सहन वड़ा ही सादा रहता था। अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, साहित्य एव इतिहास इनके प्रिय विषय थे। वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त करना तो मानो भगवान ने ही इनके भाग्य मे लिख दिया था। इस प्रकार ऑनर्स के साथ इन्होने स्नातक की परीक्षा पास की। तदुपरान्त इन्हे छात्र-सघ का उपाध्यक्ष वनाया गया है। 'हेरॉल्ड कौक्स' और 'कैम्ब्रिज स्पीकिंग प्राइज', जो चार वर्षो तक वाक्प्रतियोगिता मे प्रथम स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थी को ही प्रदान किए जाते थे, अपने समय मे किशोर जाकिरहुसेन को ही मिले।

स्नातक की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के बाद जाकिरहुसेन ने एम० ए० लॉ (वकालत) मे नाम लिखाया। यहाँ भी उनकी प्रतिभा खूब चमकी। यही जान लिया जाए कि वे एम० ए० में पढते भी थे और अपने साथियो को भी पढाते थे, यानी विद्यार्थी भी थे और प्राध्यापक भी।

नेशनल मुस्लिम यूनिवर्सिटी (जामिया मिलिया इस्लामिया) की स्थापना—

अभी विद्यार्थी जाकिरहुसेन एम० ए० की परीक्षा भी नही दे पाए थे कि इधर महात्मा गाँधी का असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। खिलाफत-आन्दोलन, रॉलेट एक्ट और जालियाँवाला बाग का हत्याकाड आदि उस समय की चर्चित एव विवादास्पद समस्याएँ थी। खासकर जालियाँवाला बाग के हत्याकाड से भारत की तमाम जनता दुखी थी, और सबो का ध्यान महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन की ओर ही लगा था।

सन् १९२० ई० के सितम्बर महीने में कलकत्ते में राष्ट्रीय काग्रेस की एक विशेष सभा बुलाई गई, जिसमे महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन की रूपरेखा प्रस्तुत की, और भारत के तमाम नागरिको से आग्रह किया कि सब-के-सब अग्रेजी हुकूमत के साथ असहयोग करे। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि विद्यार्थी अपने विद्यालय को छोड़ दे, वकील अपनी वकालत को छोड़ दे, विधानसभा के सदस्य अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दे और साथ-साथ सब-के-सब मन, वचन और कर्म से विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार करे।

इसी सिलसिले मे महात्मा गांधी, मौलाना मोहम्मदअली, और मौलाना शौकतअली—तीनों व्यक्ति अलीगढ़ पहुँचे। वहाँ विद्यार्थियों की ओर से एक सभा का आयोजन किया गया। किन्तु संयोगवश उस समय छात्र-संघ के उपाध्यक्ष विद्यार्थी जाकिरहुसेन अस्वस्थ थे। अतः वे प्रथम दिन की सभा में उपस्थित नही हो सके। परिणाम यह हुआ कि कुछ विद्यार्थियो ने

बापू के सिद्धान्तो का खुलेआम विरोध किया, और हर्षोल्लसित होकर नारे भी लगाए—'वे लोग आए, सबो से मिले और पराजित होकर लौट गए' (They came, they saw and they un-conquered)।

दूसरे दिन जाकिरहुसेन को इन सारी बातो की सूचना मिली और वे मन-ही-मन बहुत दुखी हुए। लेकिन, अब पछताए होत क्या, चिड़िया चुग गई खेत ! फिर भी उन्होने धैर्य धारण किया और अपने आत्मीय बन्धु-बान्धवो को बुलाकर दूसरे दिन भी सभा का आयोजन करने की सलाह दी। यद्यपि वे बुरी तरह बुखार से पीड़ित थे और चिकित्सको ने उन्हे घर से बाहर निकलने से मना भी कर दिया था, फिरभी उन्होने दूसरे दिन की विराट सभा मे हाथ बँटाया और खुले शब्दो मे घोषणा की कि 'हम लोग भारतमाता की सन्तान है और अपनी माता को आजाद करने के लिए हमे अपने जीवन का बलिदान करना ही चाहिए। अत मै अपने साथियो से अपील करता हूँ कि वे अलीगढ विश्वविद्यालय से त्यागपत्र दे दें', और वस्तुत उसी समय उन्होने अपना त्यागपत्र लिखकर कालेज के अधिकारी-वर्ग के पास भेज दिया। तदुपरान्त उनके अनेक साथियो ने भी अपने-अपने पद से त्यागपत्र दे दिए। इसके बाद महात्मा गाँधी एव अली-बन्धुओ के सहयोग से 'जामिया मिलिया' (नैशनल मुस्लिम यूनिवर्सिटी) की स्थापना की गई। लगभग दो वर्षो तक विद्यार्थी जाकिरहुसेन ने उक्त विद्यालय मे अर्थशास्त्र के अध्यापक के पद पर काम किया। इसके बाद उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए सबो की राय से वे जर्मनी चले गए। वहाँ उनकी वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय (सरोजिनी नायडू के भ्राता) से भेंट हुई, और उन्ही की सलाह से उन्होने बर्लिन विश्वविद्यालय मे प्रवेश किया।

लगभग चार वर्षों तक बर्लिन मे रहकर उन्होंने अर्थशास्त्र में पी-एच० डी० की डिग्री हासिल की। यहाँ यह भी जान लिया जाए कि वे सिर्फ डिग्री प्राप्त करने के लिए ही अपने समय का सदुपयोग नही करते थे, बल्कि विविध लेख एव भाषणों के माध्यम से गाँधीजी के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार भी कर रहे थे ?

× × ×

अभी उनका अध्ययन पूर्णतः समाप्त भी नहीं हुआ था कि एकाएक 'जामिया मिलिया इस्लामिया' की ओर से उनके पास एक पत्र गया, जिसमें लिखा था—'पसे के अभाव मे नेशनल मुस्लिम यूनिवर्सिटी बन्द होने जा रही है।"

कहते हैं, इस अशुभ सन्देश से शोध-कार्य में तल्लीन विद्यार्थी जाकिरहुसेन को काफी तकलीफ हुई, और तत्क्षण उन्होंने वहीं से संस्था के अधिकारी-वर्ग से अपील की, कि सम्प्रति किसी भी तरह सस्था के प्राण को बचाए रखें, मेरे भारत आने के बाद ही इस समस्या पर फिर से विचार किया जाएगा—मैं और मेरे मित्र इस सस्था के लिए आत्म-समर्पण करने के लिए तत्पर हैं। (My friends and I are ready to dedicate our lives to the Jamia. Please see that it is not closed before our return)।

इसके बाद उक्त विश्वविद्यालय के आर्थिक सकट की सूचना गांधीजी के पास भी भेजी गई, और उन्होने अधिकारी-वर्ग को प्रोत्साहित करते हुए कहा कि जामिया का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है, आवश्यकता है सिर्फ वहाँ के प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों की सतत् जागरूकता की, यदि आर्थिक संकट ही आपके सामने सबसे बडी समस्या है, तो मैं वादा करता हूँ कि इसके

लिए भिक्षाटन भी करूँगा (If money is the problem I shall beg for it)।

इस प्रकार कुछ दिनो के बाद, यानी सन् १९५५मे महात्मा-गाँधी के विचारानुसार उक्त सस्था का स्थानातरण से दिल्ली अलीगढ मे हो गया। सन् १९२६ मे जाकिरहुसेन भी पी-एच डी. की डिग्री लेकर भारत लौट आए,और तदुपरात उन्हे ही जामिया मिलिया इस्लामिया का उपकुलपति बनाया गया। उनकी देख-रेख मे जामिया मिलिया की जो प्रगति हुई, वह सारे ससार के सामने है।

उपकुलपति होकर भी छोटे-छोटे वच्चो को पढाने जाना, छात्रावास में जाकर छात्रो के साथ बैठकर भोजन करना, छात्रा-वास की खिडकी एव बच्चो की बेडिग की सफाई पर भी ध्यान रखना, आदि उनके स्वभाव की ऐसी विशेषताएँ थी जिनसे प्रभावित होकर उनके दुश्मन भी मित्र बन जाते थे।

उनके शैक्षणिक प्रयोग की व्यावहारिकता को देखकर ही महात्मा गाँधी ने बुनियादी शिक्षा की रूपरेखा तैयार करने के लिए जिस समिति का गठन किया था, उसका अध्यक्ष शिक्षा-शास्त्री डा० जाकिरहुसेन को ही वनाया गया।

व्यावहारिक राजनीति के पथ पर—

यो तो विद्यार्थी जीवन से ही डा० जाकिरहुसेन सैद्धान्तिक राजनीति मे काफी अभिरुचि रखते थे, किन्तु व्यावहारिक और खासकर सरकारी राजनीति के मच पर खुलकर आने का मौका उनको उस समय नही मिला था। सर्वप्रथम सन् १९५२ में उन्हें राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया गया। १९५२ से १९५७ तक वे राज्यसभा के सदस्य रहे, तदुपरान्त सन् १९५७ में उन्हें बिहार का राज्यपाल बनाया गया। किन्तु आश्चर्य की वात तो

यह, कि राजनीतिक मंच पर रहते हुए भी वे शिक्षा एवं संस्कृति के पुनर्निर्माण में सक्रिय सहयोग प्रदान करते रहे। 'यूनेस्को' में उन्होंने स्वाधीन भारत का प्रतिनिधित्व किया, और उसकी कार्यकारिणी समिति का सदस्य रहकर १९५६ से सन् १९५८ तक उस विश्वविख्यात संस्था की सेवा की।

१९६२ में भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने स्वेच्छा से विश्वप्रसिद्ध दर्शनशास्त्री डा० राधाकृष्णन को अपने स्थान पर नियुक्त किया, और उसी समय डा० जाकिर हुसेन स्वतंत्र भारत के उपराष्ट्रपति बनाए गए। इस अवधि में उन्होंने सिर्फ भारत की आन्तरिक राजनीतिक गतिविधि में ही भाग नहीं लिया, बल्कि सारे विश्व में भारतीय शिक्षा, संस्कृति एवं राजनीति के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया, और सबों से शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाए रखने की अपील भी की।

सन् १९६७ में डा० राधाकृष्णन ने राष्ट्रपति पद से मुक्त होने की हार्दिक इच्छा प्रकट की और तदुपरान्त राष्ट्रपति पद के अभूतपूर्व निर्वाचन में भाग लेकर डा० जाकिरहुसेन ने भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति पद को सुशोभित किया। शपथ ग्रहण करने के समय जो दृढ़ प्रतिज्ञा उन्होंने की थी, उसका पालन वे मन-वचन और कर्म से आजीवन करते रहे।

प्रतिज्ञा इस प्रकार थी—

"मैं भारतीय संघ की सबलता और प्रगति के लिए तथा जाति-वर्ण और सम्प्रदायजनित किसी भी विषमता के बिना भारतीय जनता के कल्याण के हेतु कार्य करूँगा।" आगे उन्होंने पुनः कहा—"सारा भारत मेरा घर है और भारतीय जनता मेरा

परिवार। जनेता ने इस परिवार के प्रधान के रूप मे मुझे एक खास समय तक के लिए चुना है। मेरा यह हार्दिक प्रयास होगा कि इस घर को मजबूत और सुन्दर बनाएँ।"

इस प्रकार २ वर्ष १० दिनो तक भारतीय गणतंत्र का राष्ट्र-पति रहकर ३ मई सन् १९६९ को लगभग १२ बजे दिन मे डॉ० जाकिरहुसेन इस ससार-सागर से बिदा ले गए। उनकी दिवगत आत्मा के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए तत्कालीन उप-प्रधान मत्री श्री मोरारजी देसाई ने उनके जीवन का मूल्याकन करते हुए ठीक ही कहा था—"डॉ० जाकिरहुसेन उन दुर्लभ आत्माओ में से थे. जिनका मानवता के प्रति प्रेम उतना ही गहरा एव निष्ठापूर्ण था जितना उनके कल्याण तथा सुख के लिए उनकी चिन्ता। उनका गुण-सम्पन्न दीर्घ जीवन हमे उनके द्वारा राष्ट्र-जीवन की समृद्धि के लिए किए गए महान् कार्यो की विशेषत. शिक्षा-क्षेत्र मे किए गए कार्यो की याद दिलाता है जहाँ उन्होने अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोडी थी। भारत मे धर्म-निरपेक्षता को पुष्ट कर मे उन्होने जो ऐक्यकारक प्रभाव प्रदान किया, वह उनकी महानतम सेवा थी।

शिक्षा-दर्शन

डॉ० जाकिरहुसेन का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन पर आधारित है। ये जीवन को परमात्मा का प्रसाद मानते थे। उनका कहना था कि प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा का शाश्वत अश है। वे अक्सर अपने भाषणो मे भारतीय कवियो का उद्धरण उद्धृत करते थे, और सबो से निवेदन करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर परमात्मा का अश विराजमान है, अत. उसे विकसित होने का समुचित अवसर देना हमारा फर्ज है, और यह शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। अतः हमे चाहिए कि

स्वय कष्ट सहकर भी हम अपने बच्चों को शिक्षा की सच्ची रोशनी प्रदान करे।

वे राष्ट्रीय शिक्षा के पक्ष मे थे। उनका कहना था कि जब तक राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक पूर्णतः शिक्षित नही हो जाता है, तब तक राष्ट्र का चतुर्दिक विकास सम्भव नही है। देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए सबसे अधिक ध्यान राष्ट्रीय शिक्षा की ओर दिया जाना चाहिए।

वे बालको को साक्षात् ईश्वर का प्रतिनिधि समझते थे। उनका कहना था कि बालको के हृदय मे किसी भी तरह का भेद-भाव नही पाया जाता है। वे सबो को एक समान प्यार करते हैं। अतः हम सबों को भी चाहिए कि हम भी एक-दूसरे की सन्तानों को अपनी सन्तान समझकर उन्हे अपना असीम प्यार दे, उनके विकास-मार्ग में किसी तरह की बाधा उपस्थित न करें। बच्चे, चाहे वे भिखारी के हो या राजा के, हैं तो बच्चे ही—अतः सबों को शिक्षा प्राप्त करने का, सबों को अपनी मजिल की ओर अबाध गति से अग्रसर होने का समुचित अवसर मिलना ही चाहिए।

बुनियादी शिक्षा-सिद्धान्त और डॉ० जाकिरहुसेन—

यो तो बुनियादी-शिक्षा-प्रणाली के प्रणेता महात्मा गांधी हैं, किन्तु उसके प्रयोगात्मक विश्लेषण में डॉ० जाकिरहुसेन का सहयोग भी अविस्मरणीय है। सक्षेप में यही जान लिया जाए कि डॉ० जाकिरहुसेन का सम्पूर्ण शिक्षा-दर्शन उनके बुनियादी शिक्षा-प्रणालो के सिद्धान्त-निरूपण मे ही अन्तर्निहित है। अतः उनके शिक्षा-दर्शन को अच्छी तरह समझने के लिए बुनियादी शिक्षा-सिद्धान्त का समुचित विश्लेषण आवश्यक है—

गाँधीजी के निर्देशानुसार डॉ० जाकिरहुसेन की अध्यक्षता में एक समिति का संगठन किया गया था, जिसने बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सिद्धान्त निरूपित किए थे—

(१) सात वर्ष तक नि शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(३) शिक्षा किसी दस्तकारी या उत्पादक कार्य पर अवलम्बित हो।

(४) पाठशालाएँ आत्मनिर्भर हो, और शिक्षक का वेतन निकाल ले।

नि.शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा— इस पद्धति के अन्तर्गत सात से चौदह वर्प तक के लिए वालको को अनिवार्य नि.शुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी। किन्तु कुछ दिनो के वाद इस अवधि को दो भागों मे बाँट दिया गया—जूनियर वेसिक शिक्षा और सीनियर वेसिक शिक्षा। प्रथम के अन्तर्गत छ से ग्यारह साल तक के वालको की शिक्षा का प्रवन्ध किया गया और द्वितीय के अन्तर्गत ग्यारह से चौदह साल तक की उम्र के वालको की शिक्षा का प्रवन्ध। इस योजना का एकमात्र उद्देश्य ऊँच-नीच, धनी-गरीव सवों की सन्तानो को शिक्षित करना एव उन्हें प्रारम्भ से ही स्वावलम्बन की शिक्षा देना था।

शिक्षा का माध्यम मातृभापा—समिति ने सर्वसमिति से यह निर्णय किया कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। कारण, मातृभापा के माध्यम से ही बच्चो को अपनी सस्कृति की वास्तविक शिक्षा दी जा सकती है क्योंकि मातृभापा का सम्बन्ध उनके रक्त और मास के साथ होता है। महात्मा गाँधी ने कहा भी था— "विदेशी भापा ने हमे अपने घरो को विदेशी वनाने के साथ-साथ रट्टू-तोता भी वना दिया है। हमारी मौलिकता पूर्णतया

समाप्त हो चुकी है। अपनी भाषा मे अपनी सस्कृति तथा जनता की आशा निहित होती है। इसी को पढने से भावो मे यथार्थता तथा स्पष्टता आती है और इसी को पढकर हम जनता के विचारो तथा आशाओ का जान सकते है। इससे नैतिकता तथा सौन्दर्योपासना का जन्म होता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तानी द्वितीय भाषा के रूप मे यहाँ स्वीकृत की गई है। यह भी अनिवार्य है क्योकि जनता की भाषा यही है।

शिक्षा किसी दस्तकारी या उत्पादक कार्य पर अवलम्बित हो—

इस शिक्षा का माध्यम हस्तकला है। इसे बुनियादी इसलिए कहा गया है कि "सम्पूर्ण शिक्षण किसी हस्तकला के चारो ओर केन्द्रित होता है और सम्पूर्ण शिक्षा दस्तकारी के अनुसार दी जाती है। इसमें सभी विषय भिन्न-भिन्न न होकर परस्पर केन्द्रित होते है, जैसे सौरमंडल मे सूर्य के चारो ओर ग्रह रहते हे और सूर्य से सचालित तथा उसी पर आश्रित रहते हैं, ठीक उसी प्रकार यहाँ हस्तकला के केन्द्र के चारो ओर अन्य विषय सज्जित हैं। साथ ही इसके वैज्ञानिक रूप पर वल देना चाहिए अर्थात् वालको मे प्रत्येक वात पर "क्यो और कैसे" जानने की प्रतिक्रिया हो तभी इस शिक्षा को सफल कह सकते हैं।"

—डॉ० वालकृष्ण एस० पडित (शिक्षण-विधि)

आत्मनिर्भरता—देश की नाजुक आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया था। चूँकि भारत के अधिकाश नौनिहाल अपने माता-पिता की आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही शिक्षा प्राप्त करने से वचित रह जाते थे, अतः गाधीजी के निर्देशानुसार समिति ने यह तय किया, कि पाठशालाओं को ही आत्मनिर्भर वना दिया जाए, ताकि न

तो अभिभावको से आर्थिक सहायता लेने की आवश्यकता महसूस हो, और न सरकार से ही। इसीलिए उद्योग-केन्द्रित शिक्षा की व्यवस्था की गई। इससे बच्चो का सिर्फ चतुर्दिक विकास ही नही होता, बल्कि वे आत्मनिर्भर भी हो जाते है, और उन्ही के उद्योग से शिक्षको का वेतन भी निकल जाता है। गाँधीजी ने इस सम्बन्ध में कहा भी था—"मै ऐसा चाहता हूँ कि शिल्प के द्वारा जो धन बच्चा पैदा करे, उससे उसकी शिक्षा का खर्च निकल सके, क्योकि मेरा विश्वास है कि देश के करोडो बच्चो को शिक्षा देने का और कोई उपाय नही है। यह भी उचित नही है कि हम उस समय तक प्रतीक्षा करे जब तक सरकार खजानों मे से हमे धन दे। शिक्षा का आत्मनिर्भर होना भी इसकी सफलता की कुंजी है।" ......"यह शिक्षा-प्रणाली धीरे-धीरे अध्यापको के वेतन का व्यय भी निकाल सकेगी।"

पाठ्यक्रम—बुनियादी शिक्षा के पाठ्य-क्रम मे निम्नलिखित बातो का समावेश है—

१. हस्तकलाएँ—इसमे कताई, बुनाई, बढईगिरी तथा बागवानी आदि सम्मिलित है। स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए अन्य कार्य भी चुने जा सकते है।

२. मातृभाषा—यह शिक्षा की माध्यमिक भाषा है।

३. सामाजिक अध्ययन—इसमे इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र एव अर्थशास्त्र आदि विषय सम्मिलित किए जाते है।

४ सामान्य विज्ञान—इसमे बागवानी, वनस्पति शास्त्र, पशु-विद्या, स्वास्थ्य-विज्ञान, रसायन-शास्त्र आदि सम्मिलित है।

५ गणित—इसके अन्तर्गत अकगणित, बीजगणित एवं रेखागणित सम्मिलित है।

६. कला—चित्रकला एव ड्राइग।

७ संगीत—

८. हिन्दुस्तानी—इसका सम्बन्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी से है।

इस योजना में पाँचवी कक्षा तक लडके एव लड़कियों का कोर्स एक ही होता है, परन्तु छठी एव सातवी कक्षा के पाठ्य-क्रमों में लड़कियों के लिए गृह-विज्ञान की व्यवस्था की जाती है, तथा लडकों के लिए सामान्य विज्ञान की।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह गौरव के साथ कहा जा सकता है कि डॉ० जाकिरहुसेन एक महान् देश-भक्त, एक महान् राजनीतिज्ञ, एक महान् विद्वान् एवं इन सबों से अधिक एक महान् शिक्षा-शास्त्री थे। निःसन्देह उनका शिक्षा-दर्शन सम्पूर्ण शिक्षा-जगत् के लिए अभूतपूर्व वरदान सिद्ध हुआ है, और भविष्य मे भी अखिल जन-मानस को दिव्यालोक प्रदान करता रहेगा।

●

६ काका कालेलकर

प्रत्येक महान् आत्मा इस ससार मे परमात्मा का एक विशेष सन्देश लेकर अवतरित होती है और अपने मन, वचन एव कर्म से सारे ससार को मुक्ति का शाश्वत सन्देश देकर फिर अनन्तकाल के लिए यहाँ से विदा हो जाती है। काका साहव कालेलकर भी ऐसे ही महान् आत्माओ मे से एक है। ये अनन्त मार्ग के अश्रान्त पथिक है, जिनका गन्तव्य स्थान भौतिक जगत् का तटबन्ध नही, परमात्मा का परम पद है। ये अखिल जन-मानस को विश्व-समन्वय का सन्देश देने के लिए अवतरित हुए है। ये समन्वय को ही मानव-जीवन का आदर्श मानते है। इनकी दृष्टि मे सघर्ष की अपेक्षा सह-जीवन तो श्रेष्ठ अवश्य है, किन्तु सहयोग के अभाव मे सह-अस्तित्व केवल वध्य ही नही, विकृत और जहरी हो जाता है।

समन्वय के पारस-मणि की अद्भुत शक्ति की चर्चा करते हुए उन्होने लिखा है—"सरकस के पीजरे में जिस तरह अनेक हिस्र जानवर अलग-अलग रखे जाते है, और उन्हे एक-दूसरे से घृणा करने की इजाजत है, उनकी प्रत्यक्ष मुठभेड नही होने दी जाती, उसी तरह दुनिया के सब विरोधी तत्वो को एक ही दुनिया मे सलामत रखने का आदर्श आज सोचा जा रहा है।

अब आशा की जाती है समन्वय-युग के आने की।

समन्वय-युग में संघर्ष को जीवन की आवश्यक प्रक्रिया नही माना जाता। होड से नही, किन्तु सहयोग से मानव को प्रगति हो सकती है। अर्थ-परायण बनने से नही, किन्तु जीवन-परायण बनने से मनुष्य को सुख-शान्ति मिल सकती है। धर्मान्धता से नही, किन्तु न्याय-निष्ठा से, प्रेम-भाव से और अनेकान्त-दर्शन से मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है।

दृष्टि-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन और जीवन-परिवर्तन समन्वय-युग की प्रधान निशानी है। समन्वय ही जीवन का सच्चा दर्शन और अन्तिम साधना है। समन्वय के पारस-मणि का स्पर्श होते ही तर्क और सघर्ष के तीक्ष्ण शस्त्र फूलों के समान मुलायम हो जाते है।"

—समन्वय-सस्कृति की ओर (पृष्ठ २३)

जन्म, बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा—

काका साहब का जन्म १ दिसम्बर सन् १८८५ को महाराष्ट्र की राजधानी, सतारा मे हुआ था। इनके पिताजी का नाम श्री बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर था, और माताजी का नाम श्रीमती राधाबाई। इनके पिताजी बडे ही धर्मनिष्ठ एव जाग्रत-न्याय-बुद्धि वाले व्यक्ति थे। जिस समय काका साहब का जन्म हुआ था, उस समय वे सतारा जिले के कलेक्टर के हैड एकाउण्टेण्ट के पद पर काम करते थे और उनकी उम्र लगभग पचास साल की थी। उनकी हार्दिक इच्छा काका साहब को वकील बनाने की थी किन्तु जो व्यक्ति परमात्मा की ओर से ससार की कचहरी मे वकालत करने के लिए अवतरित हुआ हो, वह किसी सीमित कोर्ट मे जाकर जीवात्मा का वकील कैसे बने। बचपन से ही काका साहब का ध्यान प्रकृति में अन्तर्निहित

आनन्द और आलोक की ओर मुडने लगा, जो अबतक उनके जीवन को आनन्दित और आलोकित करता आ रहा है।

काका साहब अपने भाई-बहन (छह भाई और एक बहन) मे सबसे छोटे थे। अतः इन्हे घर के सभी सदस्यो का दबाव सहना पडता था। इनके लिए घर मे विशेष सावधानी बरती जाती थी। इन्हें समाज के अन्य लोगो के साथ घुलने-मिलने का भी समुचित अवसर नही मिल पाता था। फलस्वरूप इनका ध्यान धीरे-धीरे प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर मुडने लगा। इस सम्बन्ध मे श्री पाडुरग देशपाडेजी ने बडे ही स्पष्ट और सुन्दर ढग से लिखा है—"प्रकृति, पशु-पक्षी सब उनके सामने खडे ही थे, अतएव उनके प्रति काका साहब का आकर्षण बढता गया। आकाश, बादल, नक्षत्र, समुद्र, नदी, जंगल अथवा रेगिस्तान इत्यादि प्राकृतिक पदार्थो को देखकर उनके मन मे नये-नये भाव उत्पन्न होते थे, उनपर एक प्रकार की मस्ती छा जाती थी और उससे उनकी कवि आत्मा को आहार मिलता रहता था। यही उनके गद्य-काव्यो का पाया माना जाएगा। काका साहब ने पद्यात्मक-काव्यो की रचना नही की, इसका कारण उनका मानसिक आलस्य ही होना चाहिए। इस प्रकार काका साहब के जीवन के निर्माण मे माता-पिता, एव पारिवारिक वातावरण के अतिरिक्त प्रकृति-प्रेम, आत्मलक्ष्यी वृत्ति, प्रवास-पर्यटन एव शिक्षको का योगदान रहा है।"

जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, काका साहब की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा एक हिन्दू विद्यालय में सम्पन्न हुई, जहाँ के प्रधाना-ध्यापक श्री वामनरावजी थे। श्री वामनरावजी धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होने 'ऋग्वेदी' के नाम से 'आर्यो के त्यौहारो का इतिहास' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसमे अन्तर्निहित

तात्विक स्वरूप का प्रभाव काका साहव के मस्तिष्क पर काफी गहरा पड़ा था।

सन् १६०३ मे काका साहब ने मैट्रिक की परीक्षा पास की और उसी साल उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए पूना के फर्ग्युसन कालेज मे प्रवेश किया। आप एक विलक्षण प्रतिभा वाले छात्र तो थे ही, साथ ही राजनीति में भी आपको अभिरुचि अद्वितीय थी। तभी तो वार्तालाप के सिलसिले मे एक वार महामना लोकमान्य तिलक ने आपसे कहा भी था—"हम यह नही कहते कि आप अपनी पढाई छोड दे, वल्कि हम तो यह चाहते है कि आप पढाई के साथ ही देश की सेवा भी करें और यदि ऐसा करने से प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी को द्वितीय श्रेणी मे उत्तीर्ण होना पड़े, तो देश के लिए उसे उतना त्याग करना चाहिए।"

स्मरणीय है कि कालेज-जीवन मे ही काका साहव ने अनेकानेक उत्कृष्ट धर्म-ग्रन्थों एव सत्साहित्यों (यथा—डा० भाडारकर और न्यायमूर्ति रानाडे का साहित्य, स्वामी विवेकानन्द के धर्म-ग्रन्थ एवं साथ ही उपनिषद् एव गीता जैसे महानतम ग्रन्थ भी) का अध्ययन किया था, तथा इस निर्णय पर पहुँचे थे कि राष्ट्रीय शिक्षा एव लोक-शिक्षा के माध्यम से ही देश का चतुर्दिक विकास सम्भव है।

शैक्षणिक प्रयोग और विविध यात्राएँ—

सन् १६०७ में काका साहव ने वी० ए० की परीक्षा पास की। तदुपरान्त कर्नाटक के महान् लोकसेवक श्री गंगाधर राव देशपांडे की सलाह से उन्होंने एक वर्ष तक वेलगाम मे स्थित 'गणेश विद्यालय' नामक राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था का सचालन किया। फिर देश के गर्म राजनैतिक वातावरण से प्रभावित

होकर कुछ दिनो तक 'राष्ट्रमत' (जो बम्बई से प्रकातिश होता था) के सम्पादक-मडल मे रहे। किन्तु जब सरकार ने पत्रिका की वढती हुई लोकप्रियता से प्रभावित होकर उसे बन्द करवा दिया, तव ये श्री अरविन्द घोष के योगमार्ग की ओर झुके। इसी अवधि मे इन्होने गाँधीजो के सत्याग्रह आन्दोलन (जो दक्षिण अफ्रीका मे चल रहा था) की रूपरेखा का भी अध्ययन किया, और अपने मित्र श्री गुणाजी के आग्रह पर स्वामी रामतीर्थ की एक जीवनी भी तैयार की। स्मरणीय है कि काकाजी के जीवन का सबसे पहला साहित्यिक पुष्प यही पुस्तक है जिसका मराठो-साहित्य मे उत्कृष्ट स्थान है।

गंगानाथ भारती विद्यालय—सन् १९०८ मे काका साहब के माताजी एव पिताजी का स्वर्गवास हो गया। इसके बाद इन्होने गुजरात को अपना सेवा-क्षेत्र बनाय। और बडौदा आकर 'गगनाथ भारती विद्यालय' मे आचार्य के रूप मे काम करने लगे। इसी अवधि में इन्होने अमरीका के हब्शी नेता बुकर टी०वाशिंगटन की दो पुस्तके 'अप फ्रोम स्वेलरी (आत्मोद्धार) और 'माई लार्जर एजुकेशन' (मेरी व्यापक शिक्षा) का भी अध्ययन किया। स्मरणीय है कि इन दो पुस्तको के अध्ययन से काका साहब की राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी विचारधाराएँ और अधिक मजबूत हो गई, और उन्हे यह विश्वास हो गया, कि "केवल देशाभिमान अथवा राजनैतिक क्रान्ति की पूर्ण तैयारो का नाम ही राष्ट्रीय शिक्षा नही, वल्कि भारतीय सस्कृति की नीव पर व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का नये सिरे से निर्माण करना है और इसके लिए केवल बुद्धि का नही, किन्तु कला-कौशल और उद्योग-धन्धे का विकास भी आवश्यक है।"

—श्री अमृतलाल नानावटी ('संस्कृति के परिव्राजक' से उद्धृत)
पृ० १४३

हिमालय की यात्रा पर—

सरकारी आदेशानुसार सन् १९११ ई० में गंगनाथ भारती विद्यालय को वन्द कर दिया गया। इसके वाद काका साहव ने अपनी पत्नी एवं अपने पुत्र को (सन् १९०२ मे काका साहव का विवाह शिरोडकर परिवार की सुश्री लक्ष्मीवाई के साथ सम्पन्न हुआ, और २३ जून, सन् १९०९ को उनके प्रथम पुत्र शंकर का जन्म—गंगनाथ भारती विद्यालय में काम करते वक्त ये वडौदा मे सपरिवार रह रहे थे) घर भेज दिया, और स्वयं हिमालय-यात्रा के लिए कूच कर दिया। लगभग दो-ढाई वर्ष तक इन्होने हिमालय मे निवास किया और लगभग दो-ढाई हजार मील की पद-यात्रा भी की। गगोत्री, जमुनोत्री, केदारनाथ एवं वद्रीनाथ आदि पवित्र तीर्थस्थानो की यात्रा समाप्त करने के वाद काका-जी ने पुन. अलमोड़ा का दर्शन किया। इस अभूतपूर्व यात्रा का वर्णन काका साहव ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'हिमालय-यात्रा' मे किया है, जो वस्तुतः हमारी संस्कृति के अमर-धामो का जीता-जागता प्रतीक है।

ब्रह्मदेश की ओर—

हिमालय-यात्रा से लौटने के वाद काका साहव ने नेपाल की यात्रा की। इसके वाद शान्तिनिकेतन, हरद्वार, आर्यसमाज वालों के कागडी गुरुकुल, वैष्णवों के आचार्य-कुल राजा महेन्द्र प्रताप के प्रेम-महाविद्यालय आदि स्थानों के दर्शन किए। छ. महीने तक शान्तिनिकेतन मे शिक्षक का भी काम किया। तदुपरान्त आचार्य कृपलानी एव गिरधारीजी (कृपलानीजी का भतीजा) के साथ ब्रह्मदेश की यात्रा पर निकले। वहाँ उन्होंने रगून, पेगू, माडले आदि नगरो का निरीक्षण किया, जिसका वर्णन काका साहव ने अपनी पुस्तक 'ब्रह्मदेश की यात्रा' में किया है।

गाँधीजी से भेंट और स्वाधीनता-संग्राम की ओर—

ब्रह्मदेश की यात्रा से लौटने के बाद काका साहब पुनः शान्तिनिकेतन में ही शिक्षक का काम करने लगे। वही पर उनकी फरवरी १६१५ मे महात्मा गाँधीसे प्रथम भेंट हुई। इसके पूर्व वे गाँधीजी द्वारा लिखित 'हिन्द स्वराज्य' का अध्ययन कर चुके थे। फलस्वरूप उनसे साक्षात्कार होने के बाद इन्होने उनके समक्ष सैकडो प्रश्न रखे, और सबो का सतोषजनक उत्तर पाकर यह अनुभव किया कि 'यही व्यक्ति मुझको उस पार पहुँचाने मे समर्थ हो सकता है।' यहाँ यह भी जान लिया जाए कि काका साहब के मन पर विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के सास्कृतिक, साहित्यिक एव कला से सम्बन्धित विचारो का प्रभाव भी काफी पड़ा था। किन्तु बापू से भेंट होने के पश्चात् इन्होने उनके कर्म-योग के महत्त्व को हृदय से स्वीकार किया, और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—'साहित्य, कला और संस्कार-प्रधान शिक्षा पर से त्यागोद्योग-प्रधान और अन्ततः मूलोद्योग प्रधान शिक्षा पर पहुँचने मे प्रद्भुत रहस्य छिपा है।''

और विचार-परिवर्त्तन के बाद काका साहब ने अपने विचारानुसार प्रयोग करना भी प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम इन्होने सन् १६१६ मे बडौदा के निकट याजीपुरा नामक गाँव मे एक सहकारी दुग्धालय (डेरी) चलाया। इसी अवधि मे 'आत्मोद्धार' नामक एक मासिक पत्रिका के संचालन मे भी सक्रिय सहयोग प्रदान किया, और सन् १६१७ ई० (जब सत्या-ग्रह आश्रम को कोचरव से उठाकर साबरमती ले जाया गया) आश्रम की शाला को व्यवस्थित रूप देने मे तल्लीन हो गए। शाला के सचालन का काम शिक्षक-मडल को ही वारी-बारी से सभालना पडता था। स्मरणीय है कि इस अवधि मे काका

साहब के विविध लेख भी प्रकाशित होते रहते थे। एक बार राष्ट्रभाषा हिन्दी पर एक निबन्ध लिखकर काका साहब ने यह तर्क प्रस्तुत किया था कि "हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा बननी चाहिए; हिन्दी और उर्दू, एक ही भाषा के दो स्वरूप है, जिन्हे एक-दूसरे के निकट आना ही चाहिए।"

विद्यापीठ की स्थापना—रॉलेट एक्ट, जालियाँवाला बाग का हत्याकाड, खिलाफत का प्रश्न एव स्वराज्य की माँग—आदि समस्याओ की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप बापू के असहयोग आन्दोलनका सूत्रपात हुआ। इसकी नियमावलो में यह भी उल्लेख किया गया कि जो विद्यार्थी सरकारी विद्यालय एव महाविद्यालय का परित्याग करेंगे, उनके लिए राष्ट्रीय-शिक्षा का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। फलस्वरूप भारत के विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना की गई। इसी सिलसिले में १५ नवम्बर सन् १९२० को गाँधीजी के शुभ हाथों से ही गुजरात महाविद्यालय की स्थापना की गई।

उक्त विद्यालय मे पढाने के लिए आश्रम से भी अनेक विद्वान जाया करते थे, यथा—काका साहब कालेलकर, आचार्य विनोबा भावे, पटवर्धन एव नरहरि आदि। यद्यपि काका साहब के जिम्मे अर्थशास्त्र था तथापि आवश्यकतानुसार ये अंग्रेजो, प्राचीन इतिहास, धर्मशास्त्र एव उपनिषद् आदि भी पढाया करते थे। पढाई-लिखाई प्रारम्भ होने से पहले महाविद्यालय में प्रार्थना होती थी, और प्रार्थना के बाद विभिन्न विषयों पर इन लोगों के प्रवचन।

सन् १९२२ में गाँधीजी को छः वर्ष के लिए जेल भेज दिया गया। इसके बाद 'नवजीवन' पत्रिका के व्यवस्थापक स्वामी आनन्द उसके सम्पादक बने। कुछ दिनों के बाद जब उन्हें भी

जेल भेज दिया गया, तो उसके सम्पादन का भार काका साहब को सभालना पड़ा। किन्तु, १९२३ के फरवरी महीने मे 'राजद्रोह' का अभियोग लगाकर इन्हे भी एक साल के लिए जेल मे बन्द कर दिया गया। जेल-मुक्त होने के बाद ये क्षयरोग से ग्रस्त हो हो गए और लगभग सन् १९७० तक स्वास्थ्य-लाभ ही करते रहे।

अभी पूर्णत. स्वस्थ भी नही हो पाए थे कि सन् १९२७ के अन्त मे ये पुन. आश्रम मे लौटकर चले आए और नये सिरे से विद्यापीठ के पुनर्निर्माण मे जुट गए। आचार्य एव कुलनायक के रूप मे काम करते हुए इन्होने बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों को प्रयोगात्मक रूप प्रदान किया तथा इन्ही के सक्रिय सहयोग से गुजराती वर्त्तनी कोष का प्रकाशन भी हुआ।

धीरे-धीरे दाडी-कूच का समय भी आ ही गया, और गाँधीजी के साथ-साथ इन्हे भी यरवदा जेल की एकान्त कोठरी में बन्द कर दिया गया। सन् १९३२ के अन्त मे काका साहब जेल से मुक्त हुए, और तदुपरान्त हरिजनो एव किसानो के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए साबरमती आश्रम को विसर्जित कर दिया गया। इसके बाद तो सत्याग्रह करना, जेल जाना और जेल से आने के बाद पुन रचनात्मक कार्यों मे जुट जाना, पुनः सत्याग्रह करना, जेल जाना और···यही इन महान् आत्माओं का जीवन-कार्य हो गया।

२०-४-१९३५ को गाँधीजी के सभापतित्व मे इन्दौरमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। काका साहब सम्मेलन की लिपि-सुधार समिति के अध्यक्ष बनाए गए। इस प्रकार हरिजनो के उद्धार-कार्य, राष्ट्रभाषा का प्रचार-प्रसार, सत्य-अहिसा एवं प्रेम के सहारे पूर्ण स्वराज्य की माँग आदि इन महान्

विभूतियों के प्रमुख कार्य हो गए।

धीरे-धीरे १९४२ की क्रान्ति का समय भी आ ही गया। इस अभूतपूर्व 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में गाँधीजी तो जेल गए ही, साथ-साथ देश के सभी कर्मठ नेता अंग्रेजों की काली कोठरी में बन्द कर दिए गए। ज्ञातव्य है कि जेल मे ही काका साहब ने गीता, ज्ञानेश्वरी एव खगोल आदि विषयो का व्यापक अध्ययन किया, और गाँधीजी के साथ सौ से भी अधिक घटनाओ के शब्द-चित्र हिन्दी मे लिखे।

सन् १९४५ में काका साहब जेल से मुक्त हुए और तदुपरान्त पुनः अपने रचनात्मक कार्यों मे तल्लीन हो गए। इस प्रकार १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत आजाद हुआ, ३० जनवरी १९४८ को राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी इस ससार-सागर से विदा हुए, २६ जनवरी १९५० को भारतीय गणतन्त्र की घोषणा की गई—अपना सविधान लागू हुआ, और तदुपरान्त निष्काम भाव से भारत के चतुर्दिक विकास में सक्रिय सहयोग प्रदान करते हुए, ससार के कोने-कोने में जाकर काका साहब विश्व-समन्वय का सदेश बाँट रहे है। श्रद्धेय दादा धर्माधिकारीजी ने काका साहब की इक्यासीवी वर्षगाँठ के शुभ-अवसर पर अपना स्नेहयुक्त प्रणाम अर्पित करते हुए ठीक ही कहा था—

"काका साहब अमर-यात्री है। उस दिन दिल्ली में जब भेट हुई, तो उन्होने कहा—मृत्यु मेरा पीछा करती है लेकिन मैं इतनी जल्दी स्थानातर करता हूँ कि वह मुझे पकड नही पाती। अर्थात् इन अविश्रांत परिव्राजक के लिए स्थानातर और लोकान्तर में तथा निजधाम, परधाम और परधाम मे कोई भेद नही रह जाता है। ऐसे वृद्ध—जराजर्जर नही—अखड तीर्थयात्री

ग्रौर चिर-प्रवासी को स्नेहयुक्त प्रणाम ।"[1]

जीवन-व्यवस्था मे विश्वसमन्वय—

काका साहब समन्वय की प्रतिमूर्ति है। 'सर्वोदय' ग्रौर 'विश्व-समन्वय' उनके चिन्तन का सर्वोत्कृष्ट नारा है। वे 'जीवन' को केन्द्रविन्दु मानकर विविधता में एकता स्थापित करना चाहते है। ग्रपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ, 'जीवन-व्यवस्था' (इस ग्रन्थ को ग्रखिल भारतोय ग्रकादमो की ग्रोर से सन् १९६६ का प्रथम पुरस्कार प्रदान किया गया था) मे लिखा भी है—"ग्राज हम वैज्ञानिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था का ग्रौर मानवोय सस्कृतियो का स्वतन्त्र चिन्तन भले ही करे, मनुष्य जाति ने ग्राज तक धार्मिक प्रेरणा से ही सामाजिक जीवन का विकास किया है। ग्रौर मनुष्य-जाति की सब सस्कृतियाँ ग्रभी-ग्रभी तक धर्म-प्रधान ही रही है। ग्रथवा हम ऐसा भ' कह सकते है कि मानवी सस्कृति को जिन-जिन सार्वभौम विचारो ने ग्रौर जीवन-दृष्टियो ने प्रेरणा दी है, उन विचा ो ग्रौर दृष्टियो को धर्म के नाम से ही पहचानना चाहिए। हमारे मन मे पश्चिम के विज्ञान के उपासको ने जो जीवन-दृष्टि समस्त जगत् को दी है, वह एक नया धर्म ही है, ग्रौर ग्रर्थ-व्यवस्था को तथा राजनैतिक सत्ता को प्रधानता देकर दुनिया मे जो साम्यवाद प्रचलित हुग्रा है, उसे भी एक ग्राधुनिक ग्रथवा ग्रद्यतन जडवादो धर्म ही कहना चाहिए। भारत की गाँधी-प्रणीत सर्वोदय-दृष्टि भी दुनिया का एक सतोपप्रद नया धर्म वन जाए तो तनिक भी ग्राश्चर्य नही। भले ही धर्मो ने ग्राज तक ग्रात्मा, परमात्मा, इहलोक ग्रौर

१—दादा धर्माधिकारी—चिरप्रवासी (सस्कृति के परिव्राजक) से उद्धृत, पृ० ९९

परलोक एव पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म और मोक्ष का ही प्रधानतः चिन्तन किया हो और ईश्वर के अवतारो को धर्म-संस्थापक माना हो, सब धर्मों का मूल उद्देश्य मानवी जीवन को सुव्यवस्थित, उन्नत और कृतार्थ करना ही है। इसीलिए हम आस्तिक, वैज्ञानिक तथा गूढवादी सब धर्मों को जीवन-व्यवस्था के रूप में ही पहचानते हैं, फिर वह जीवन व्यक्तिगत हो, पारिवारिक हो या विशाल रूप मे सामाजिक हो। और यदि हम गहराई से सोचे, तो परलोक और मोक्ष भी जीवन के क्षेत्र का ही काल्पनिक अथवा सच्चा गूढ़ विस्तार है।"

अतः सह-अस्तित्व के साथ-साथ सहयोग की आवश्यकता पर जोर देते हुए वे कहते हैं—"… जहाँ सह-अस्तित्व शुरू हुआ, वहाँ क्रमशः परस्पर परिचय, परस्पर सद्भाव और एक-दूसरे को ओतप्रोत करने वाला सहयोग स्थापित होना ही चाहिए… ऐसे सहयोग में नीचे से ऊपर तक और छोटे से वड़े समाज तक पूर्ण स्वतन्त्रता, स्वावलम्वन और परस्परावलम्वन की सामर्थ्य, प्रतिष्ठा की समानता और हार्दिक ऐक्य की स्थापना होनी ही चाहिए। जीवन-विकास और जीवन-उत्कर्ष के लिए भेद और अभेद दोनो का आवश्यकता है। और दोनो का सामंजस्य ही जीवन को उत्कर्ष का रास्ता वताता है। इसी को समन्वय कहा जाता है। समन्वय से ही जीवन-सिद्धि है?"[1]

काका साहव ने जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिए सर्व-धर्म-समन्वय का सदेश दिया है। उनका कहना है कि "सारे धर्म सच्चे हैं, सभी ईश्वर-परायण हैं, सदाचार-प्रेरक हैं, उत्तय-गामी न होकर उन्नतिशील है—यह तत्वतः स्वीकार करना ही पहला कदम है।"

१—समन्वय सस्कृति की ओर—काका कालेलकर, पृ० ६

उनकी में दृष्टि मे धार्मिक सहिष्णुता धार्मिक मनुष्य का एक बहुत बडा गुण है। यदि हम किसी चीज को बुरा या अधर्म मानते है, तो इसका यह अर्थ नही कि हमे उसको मिटाने या दबाने का अधिकार है? कारण, कुछ ऐसे भी व्यक्ति है, जो उसे अच्छा एव कल्याणकारी मानते हैं। अत: हम जिसे पाप समझते है, गुनाह समझते है, उसे भी धर्यपूर्वक बरदाश्त करे। इससे भी आगे बढकर वे कहते है—"सर्वधर्म-समभाव या सर्व-धर्म-समन्वय तक पहुँचने के लिए इतनी तो हृदय की उदारता आवश्यक है ही कि हर धर्म की खूबियो को हम पहचाने। धर्म के विधि-निषेधो के पीछे की केवल धार्मिकता को ही हम पुरस्कृत करे और कालग्रस्त या गौण बाता की उपेक्षा करे।

इस प्रकार वे मानते है कि हरएक धर्म के पीछे दैवी उदात्त प्रेरणा है। अत हमे चाहिए कि स्वधर्म के प्रति पूरी निष्ठा रखते हुए हम सभी धर्मों को एक ही समान मानें।

परम्परा और प्रयोग—काका साहब प्रयोगवादी है। वे परम्परा के साथ प्रयोग को ही जीवन की वास्तविक प्रगति मानते है। अन्धानुकरण की प्रवृत्ति के तो वे कट्टर विरोधी है। वे हमको परम्परा की पुरानी लीक पर चलने का सदेश नही देते, बल्कि समय, परिस्थिति और विश्व-कल्याण की दृष्टि में रखते हुए उसमे सशोधन और परिमार्जन करने की सलाह भी देते हैं। इस सम्बन्ध मे मुझको उनके साथ हुई एक भेट-वार्त्ता की बात याद आ रही है—

गाँधी जन्म शताब्दी के शुभ अवसर पर काका साहब जम-शेदपुर पधारे थे। और १२-३-६९ को (साढे छ: बजे सध्या, बिहार एसोसिएशन जमशेदपुर) सिहभूम जिला लेखक संघ की ओर से उनका अभिनन्दन किया गया था। काका साहब के

प्रवचन के उपरान्त जब प्रश्न-प्रश्नोत्तर प्रारम्भ हुए, तब लेखकों की ओर से मैंने भी काका साहब के समक्ष एक प्रश्न रखा—"काका साहब, आपकी दृष्टि में अतीत और अनागत के मध्य वर्त्तमान के मूल्यांक की कसौटी क्या है?" उत्तर मिला—"अतीत खाद है और वर्त्तमान पुरुपार्थ, वर्त्तमान के पुरुपार्थ को अतीत की खाद से मजबूत करे और तदुपरान्त भविष्य का निर्माण करे।"

काका साहब राजनीति के नही, लोकनीति के समर्थक है। वे खुले शब्दो में घोषणा करते हैं—"राजनीति के दिन अब नही रहे, अब तो लोकनीति के दिन आ गए है।" तात्पर्य यह कि वे राष्ट्रनीति से भी ऊपर उठकर इस लौकिक जगत् को 'मानवतावाद की नीति' का सदेश देते है—"राष्ट्र-भेद से ऊँचा उठकर समस्त मानव जाति का हित सोचने वाली, सर्वोदयकारी मानवता की जय हो।"[1]

शिक्षा-दर्शन—

काका साहब के शिक्षा-दर्शन का उद्‌गम-स्थल उनका जीवन-दर्शन हैं। वे शिक्षा के माध्यम से ही सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण करना चाहते है। उन्हे आत्मविश्वास है कि शिक्षा के माध्यम से ही विश्व-समन्वय का सपना साकार हो सकता है। शिक्षण में इतनी शक्ति है कि उसके द्वारा सत्य-युग का भी निर्माण किया जा सकता है। शिक्षण के महत्त्व की ओर ध्यानाकृष्ट करते हुए वे कहते हैं—"शिक्षण एक अद्‌भुत जडी-बूटी है,

---

१—'परम्परा और प्रयोग' पर विस्तृत रूप से अध्ययन करने के लिए काका साहब द्वारा लिखित 'जीवन-व्यवस्था' और 'समन्वय-संस्कृति की ओर' पुस्तक का अध्ययन करें।

अलौकिक रसायन है, अमृत=संजीवनी है, कामधेनु है तथा कल्पना है। शिक्षण आप जिसकी कल्पना कर सके वह सब है, और उससे अधिक भी बहुत कुछ है। सत्ययुग लाने की शक्ति तो शिक्षण में ही है—ऐसा दावा शिक्षण के दर्शनकारों का है। हमें इस दर्शन के स्वरूप को, इसकी माँग को, इसके कलाकारों को, इसकी शर्तो को और इसकी फलश्रुति को ध्यान से सुनना चाहिए। संभव है कि यह अंतिम राजपुत्र ही स्वयंवर में सफल हो। आज तक कोई दर्शन सफल न हुआ, इसलिए शिक्षण भी सफल न होगा, ऐसा अनुमान निकालने में अनुचित उतावली होने की सभावना है। जब हम हर दर्शन की बात सुनते आए है, तो शिक्षण की बात भी क्यो न सुने ?"

—जीवन-व्यवस्था (पृ० ७१)

काका साहब की दृष्टि मे सभी धर्म मात्र श्रद्धा के विषय है। अत. जब सभी धर्म आपस मे सगठित हो जाएँगे, जब समाज-मानस पर वे काबू हासिल कर लेंगे, तभी वे दीर्घजीवी हो सकेंगे। उनके अनुसार धर्म भी अन्तत. एक मानवी सस्था है। वह मानवी मस्तिष्क, मानवी हृदय और मानवी जीवन का आविष्कार है। अतः 'धर्म जैसे प्राणवान सस्था मे जिस तरह दोष आते है, वैसे निकल भी जा सकते है।' लेकिन, कैसे ? इसके सम्बन्ध मे उनका एक ही उत्तर है—"शिक्षा के द्वारा।" 'भविष्य का धर्म कौन-सा होगा ?'—इस सम्बन्ध मे उनकी भविष्यवाणी सुनिए—

"All the established religions of the world are in the melting pot today The religion of the future will emerge out of the amalgam of all these and it is going to be a religion of education"

अर्थात् "विश्व के सारे प्रचलित धर्म आज रूपान्तर की स्थिति में हैं। उनके पारस्परिक समन्वय से ही भविष्य के धर्म का उद्भव होगा। भविष्य का धर्म शिक्षा-पद्धति का स्वरूप ग्रहण करेगा।"

आगे वे कहते हैं—"आज तक मानवी जीवन का संगठन धर्मों द्वारा हुआ······आजकल अर्थनीति सार्वभौम पद पर है। लेकिन आगे इनका नहीं चलेगा। जीवन-संगठन और जीवन-विकास का भार अध्यात्म-प्रेरित शिक्षा-संस्था के हाथ में ही जाएगा।"

मैं मानता हूँ, सबकी सब धर्म-संस्थाएँ अपना कायाकल्प करके शिक्षा-पद्धति का रूप धारण करेंगी। इतना ही नहीं, अपना नाम-रूप भी छोड़ देंगी और इसमें प्रारम्भ होगा हिन्दू-धर्म की ओर से। हिन्दू-धर्म का नाम है सनातन-धर्म और सनातन की व्याख्या है नित्य-नूतन। इस व्याख्या के अनुसार हिन्दू-धर्म का ही सबसे पहले और सबसे आमूलाग्र परिवर्तन होगा और यह सब धर्मों का समन्वय करके शिक्षा-धर्म बनकर दुनिया की सेवा करेगा। यही हालत सभी धर्मों की होने वाली है।

—समन्वय संस्कृति की ओर (पृ० २०४)

काका साहब शिक्षक को सत्य का सच्चा अन्वेषक मानते हैं। उनकी दृष्टि में सच्चे शिक्षक मानवीय संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि होते हैं। अत: वे शिक्षक समुदाय से कहते हैं कि 'आपका सबसे बड़ा धर्म प्रयोग और योग में समन्वय स्थापित करना है।'

१४-३-६६ को, सन्ध्या साढ़े पांच बजे, मिलानी हॉल [बिस्टुपुर, जमशेदपुर (बिहार)] में 'शिक्षक एवं शिक्षण का महत्त्व' विषय पर शिक्षकों के बीच व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था—

"शिक्षक ही सच्चे सत्यार्थी है, सत्य के सच्चे अन्वेषक। मैं शिक्षको को मानवीय सस्कृति का सच्चा प्रतिनिधि मानता हूँ। आप लोग नई सस्कृति के निर्माण में एकजुट होकर लग जाएँ। मैं मानता हूँ कि देश के नव-निर्माण के लिए जाति-भेद का उन्मूलन आवश्यक है, किन्तु शिक्षक जाति के प्रति मेरे हृदय मे असीम श्रद्धा है, वे आर्यावर्त के रक्षक है। मै आज आप लोगो से यही कहने आया हूँ कि धर्माचार्यो एव राजनीतिक लोगो से समाज-सुधार का काम नही हो सकता, क्योकि वे लोग सत्ता के लोभी है, अतः यह काम अध्यापक और साहित्यकार को ही करना है। आजकल के अधिकाश धर्माचार्य रूढिवादी है। अतः आप अध्यापक-बन्धु उन्हे रूढियो के बन्धन से अलग करे।" आगे आपने कहा—"जो लोग करुणा से प्रेरित होकर पढाते है, वे ही सच्चे अध्यापक है। जो व्यक्ति पे, पेन्शन और प्रमोशन का चिन्तन करते है, वे सच्चे अध्यापक नही है।.........सच्चे अध्यापक तो वे है, जो ज्ञान का चिन्तन करते है और करुणा से ओत-प्रोत होकर सत्य की खोज करते है......अध्यापक सत्यार्थी है, उन्हे यही सोचना चाहिए कि हम मर जाएँ तो मर जाएं, लेकिन अपने आदर्श को न छोडे।"[1]

इस प्रकार काका साहब ने बापू की नई तालीम योजना (इसी पुस्तक में बापू के शिक्षा-दर्शन मे इसका वर्णन किया गया है) का हृदय से समर्थन किया है, किन्तु वे इस योजना को और अधिक विकसित एव सर्वमान्य बनाना चाहते है। उन्ही के शब्दों मे—

"मानव-कल्याण का चिन्तन करके गाँधीजी ने घोषित किया कि सत्य और अहिसा ही इस जमाने की और शाश्वत

१—काका कालेलकर के साथ तीन दिन—परमेश्वरप्रसाद सिंह

सार्वभौम जीवन-निष्ठा है। इस अहिंसा में युद्ध-निषेध से भी बढ़कर है शोषण-त्याग और कौशल-युक्त शरीर-श्रम। इसलिए निष्कपट प्रतारण-शून्य सदाचार गोपनीयता का अभाव, शान्ति की उपासना, वर्ग-वर्ग के बीच सहयोग और सामंजस्य, स्पर्धा का त्याग, कौशल-युक्त परिश्रम, स्वावलम्बन और परस्परावलम्बन, ज्ञानोपासना और कल्याणोपासना आदि शुभनिष्ठाओं की स्थापना और विकास के अनुकूल नयी शिक्षा-पद्धति, नयी तालीम का आदर्श विकसित करना है, उसे सर्वमान्य बनाना है और उसके हाथ में सामाजिक जीवन के सूत्र सौंप देने है। यही है आज का युग-कार्य।"

—समन्वय संस्कृति की ओर (पृ० २०५)

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि काका साहब एक महान् तत्त्व-चिन्तक, एक महान् पुरातत्त्ववेत्ता, एक महान् 'स्वयं-प्रज्ञ शास्त्रनिष्ठ श्रोत्रीय' और एक महान् 'स्वयंसिद्ध लोक-शिक्षक' है। निःसदेह शिक्षण ही उस महान् आत्मा के महानतम व्यक्तित्व का महानतम उपादान है।

७ डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

"अब अपने-आप में बन्द समाजों का अस्तित्व नही है। हम जिस नई व्यवस्था की खोज कर रहे है वह न तो राष्ट्रीय है और न महाद्वीपीय। यह न तो पूर्वी है न पश्चिमी। यह सार्वभौमिक है। हमे ऐसी दृष्टि विकसित करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि हमारा राष्ट्र, कई राष्ट्रो मे से एक है, और इनमे से हरएक विश्व की सम्पन्नता और विविधता मे अपना खास योग-दान करता है। कोई जाति या राष्ट्र-भर ही मानवता नही है, बल्कि मानवता तो पूरी मनुष्य जाति है, जो हम ऐसी आशा करते है कि परस्पर सहयोग के उद्देश्य से निकट आ रही है।" ये शब्द है हमारे भारतीय गणतत्र के द्वितीय राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के। आप किसी एक परिवार, किसी एक प्रान्त, किसी एक राष्ट्र या किसी एक धर्म के व्यक्ति नही है, बल्कि सारा विश्व ही आपका अपना परिवार है। आपका आविर्भाव ही आज के दिग्भ्रमित ससार को 'मानव-चेतना' एव 'जीवन-सत्य' का बोध कराने के लिए हुआ है। आपका अनुशीलता सदेश है—"राष्ट्र अमर नही है। वे इस गृह के स्थायी स्वामी नही है। वे इसके अस्थायी किराएदार है। अगर वे नैतिक नियमो मे बँध कर रहेगे तो ज्यादा समय तक जीवित रहेगे। अगर लोगो के मन लोभी बने रहते है तो वह समय दूर

नहीं जब राष्ट्रों को बुरे दिन देखने पड़ेंगे। राष्ट्रों का लक्ष्य स्थायित्व का होता है। किन्तु हम जानते है कि सभी महान् समाज खत्म होने पर भी विरासत मे कला-कौशल, विचार और आदर्श अपने पीछे छोड जाते रहे हैं, जिनके आधार पर हम आज भी बहुत-सी चीजो की रचना करते हैं। कोई भी समाज बेकार नही मरता। सभी जीवित चीजे मरती है, लेकिन मृत्यु के बीच से जीवन आता है।"······

अन्तर्राष्ट्रीय आणविक अस्त्रो की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं—"सवाल इस बात का नही है कि सबसे ज्यादा शक्तिशाली कौन है या अन्तर्महाद्वीपीय अस्त्रो मे कौन आगे है, सवाल इस बात का है कि चाहे जो कोई सबसे ज्यादा शक्तिशाली हो, आणविक युद्ध होने पर बचेगा कोई भी नही। ऐसा मानकर चलना, एक खतरनाक भ्रम को पालना है कि जिसके पास ये हथियार है, वे इनका उपयोग कर खुद तो बच जाएँगे। सैन्य अजेयता जैसी कोई चीज नही होती। आणविक युद्ध का मतलब होगा सबका विनाश। सभी देशो का भाग्य अभिन्न रूप से एक-दूसरे से जुडा हुआ है। या तो हम एक साथ रहेंगे या एक साथ मरेंगे। या तो एक समाज बनेगा या फिर कोई समाज शेष नही रहेगा।" अत. वे आज के विश्व-जन-मानस को विचारहीनता से जगाकर मानवता की एक नई चेतना देकर भविष्य के लिए सतर्क करते हैं—

"पुरानी संस्थाओ के घावो की मरहमपट्टी करने में अपनी शक्ति नष्ट करने की अपेक्षा हमें अपने भीतर परिवर्तन करके, नयी संस्थाएँ रचनी चाहिए। मनुष्य में अपना स्वभाव बदलने की जो क्षमता है उसमे आज समूह के उस पर आधिपत्य के कारण पहले से कही ज्यादा रुकावटें है। आधुनिक मानव भीड़

में इस हद तक खो गया है कि उसका खोना एक रोगा-ग्रस्तता है। हम जिस रोग से पीडित है, वह रोग परिवर्तन के भय का है। स्वतत्र चिन्तन के लिए कोई समय नही है। हम उन विचारो को ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लेते है, जो समाज हमे देता है। हमारी राष्ट्रीयता, हमारी जाति, हमारा सघ, हमारी राजनीतिक प्रतिवद्धता जो कुछ निर्देशित करते है, उसे आलोचना के परे माना जाता है। इस प्रवृत्ति से सच्चाई को उतना ही नुकसान पहुँचता है, जितना कि हमारी बौद्धिक सत्यनिष्ठा को। स्वीकार के ऐसे तर्राको का प्रतिरोध करके ही हम दास-प्रथा, उत्पीड़न और दूसरे अमानवीय रूपों को खत्म कर सके है। अपनी सजगता और दूसरे मनुष्यो की हित-चिन्ता को धीमा नही पडने देना चाहिए। सभी स्थापित सस्थाओ और सघो मे अविवेकी दृष्टि समान रूप से व्याप्त है। एकरूपता, विश्रृखलता से ज्यादा खतरनाक होती है। सन्देह और जिज्ञासा व्यक्ति के विकास मे, स्थिर विचारों की अपेक्षा ज्यादा सहायक होते है। हमे एकता, विचारो को दवाकर नही, विचारो के माध्यम से खोजनी चाहिए। अधिकारीवर्ग के और धुआँधार प्रचार के दवाव मे हमारे लिए जीवन की समस्याओं के प्रति विचारशील दृष्टिकोण विकसित करना कठिन है।

पूर्णता की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव मे निहित है। हम स्वभावतः मूल्य या अर्थ की एक उच्चतर मात्रा तक अपने को उठाना चाहते है। हम लोगो को विचारहीनता से जगाकर मानवता की एक नई चेतना तक ले जाना चाहते है। हम इतिहास वनाने वाले है। भले ही विनाश हमे धमका रहा हो, फिर भी हमे प्रतिरोध करना चाहिए। बजाय उनके पक्ष मे रहने के जो जीवन को नष्ट करना चाहते है, हमें उनके पक्ष मे खड़ा

होना चाहिए जो जीवन को चुनते है। हम अतीत से सन्तुष्ट नही हो सकते। हर सुबह एक नया जीवन लाती है और हर धड़कन में एक नया जीवन छिपा होता है।"[1]

इस प्रकार विश्व-दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् ने अखिल जन-मानस को मानव-चेतना का दूध पिलाने का बीड़ा उठाया है, उन्हें पूर्ण विश्वास है कि जब तक मनुष्य की आन्तरिक दुर्बलता पूर्णतः दूर नही होगी, जबतक वह अपने अन्तर्निहित सत्य को नही पहचानेगा, तबतक भौतिक उपलब्धि से भी मानव का कल्याण नही हो सकता। विज्ञान बढता जाएगा, लेकिन उसकी वैज्ञानिकता घटती जाएगी, और अन्ततः समस्त मानव-जाति ही अधःपतन के गर्त मे लुढ़ककर विनष्ट हो जाएगी।

जन्म, बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा—

डा० राधाकृष्णन् का जन्म ५ सितम्बर सन् १८८८ ई० को मद्रास के तिरूतणी नामक गाँव में हुआ था। इनके पिताजी का नाम श्री वीरस्वामी उय्या था, जो पुरोहिताई भी करते थे और अन्य ब्राह्मण-पुरोहितों की भाँति ही शिक्षक का काम भी। इनके परिवार का वातावरण प्रारम्भ से ही धार्मिक था। धर्मानुराग एवं धर्म-प्रचार की भावना तो इन्हे अपने माता-पिता से ही विरासत के रूप में मिली है।

बालक राधाकृष्णन् की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा अपने गाँव मे ही सम्पन्न हुई। पिता की छत्रछाया में ही अक्षर-ज्ञान भी हुआ और उन्हो की देखरेख में इन्होने शास्त्राभ्यास भी किया। तदुपरान्त वेल्लौर से एफ० ए० करने के बाद ये मद्रास के

१—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—आधुनिक युग मे धर्म ('विश्व-समाज का उदय' शीर्षक मे)।

क्रिश्चियन कालेज मे प्रविश्ट हुए। यहाँ आते ही इनका घनिष्ठ-तक सम्पर्क मिशनरियो के साथ हो गया, और यही पर इन्होने न्यू टेस्टामेंट (बाइबिल का एक भाग) का गहरा अध्ययन भी किया। किन्तु स्मरणीय है कि ईसाई पादरी के मुख से हिन्दू-धर्म की आलोचना-प्रत्यालोचना सुनकर ये बहुत क्षुब्ध रहा करते थे। और जैसे-जैसे हिन्दू-धर्म की आलोचना की जाती थी, वैसे-वैसे इनके हृदय में हिन्दू-धर्म के प्रति श्रद्धा एव भक्ति की भावना बलवती होती जाती थी। ईश्वर की अनुकम्पा से उसी समय इन्हे हिन्दू-योगी स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त-दशन से भी परिचय हो गया, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू-धर्म के प्रति इनकी निष्ठा और अधिक बढ़ती गई। इस सम्बन्ध मे इन्होने स्वयं लिखा है—"स्वामी विवेकानन्द के अद्भुत साहस और उनकी वाग्मिता ने हिन्दू-धर्म के प्रति मेरे उस अभिमान को जाग्रत किया जिस पर ईसाई मिशनरियो के द्वारा अबतक बराबर आघात किया जाता रहा था।"

अपने छात्र-जीवन मे इन्हे अनेकानेक आर्थिक सकटो का मुकाबला करना पडा। किन्तु वे अपने साधना-पथ से विमुख नही हुए। जब इनके समक्ष आर्थिक सकट की चर्चा चलती, तो ये विनोदपूर्ण ढग से कहते—"इसमे क्या रखा है कि वह मुँह मे सोने की चम्मच लेकर पैदा हुआ या लकड़ी की। मुख्य बात तो यह है कि वह क्या वस्तु ग्रहण करता है।"

बी० ए० मे तो इन्होने दर्शनशास्त्र का अध्ययन (वैकल्पिक विषय के रूप मे) किया ही, एम० ए० मे भी इनका दर्शनशास्त्र का अध्ययन, चिन्तन और मनन जारी रहा। इसी अवधि मे इस तरुण छात्र ने 'दी एथिक्स ऑव वेदान्त' नामक एक निबन्ध लिखा, जिस पर दर्शनशास्त्र के अध्यापक श्री ए० जी० हाग ने

एक प्रमाणपत्र भी दिया, और लिखा भी—"एम० ए० की परीक्षा के लिए इस विद्यार्थी ने जो निबन्ध लिखा है, वह इस बात का प्रमाण है कि वह मुख्य-मुख्य दार्शनिक समस्याओं को भलीभाँति समझता है और उनको उसने हृदयंगम कर लिया है। विकट और पेचीदा तर्क को वह बहुत अच्छी तरह से प्रकट करने की योग्यता और क्षमता रखता है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा पर उसका प्रभुत्व विलक्षण है।"

यद्यपि डा० राधाकृष्णन् ने सन् १९११ ई० में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की तथापि सन् १९०८ मे ही इनकी नियुक्ति मद्रास प्रेसीडेंसी कालेज में तर्कशास्त्र के उपाध्याय (असिस्टेंट प्रोफेसर) के रूप मे हो गई थी। इसी अवधि में इनके लेख और निबन्ध विदेशी पत्र-पत्रिकाओं मे भी छपने लगे थे। फलतः इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर मैसूर के सुप्रसिद्ध इंजीनियर दीवान मोक्षगुंडम विश्वेश्वरैया ने इन्हे अपनी रियासत में बुलाकर महाराजा कालेज, मैसूर में दर्शन के प्राध्यापक-पद पर नियुक्त किया। इस प्रकार सन् १९०८ से १९१७ तक ये प्रेसीडेन्सी कालेज में रहे और १९१८ से १९२१ तक मैसूर कालेज मे।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में—

सन् १९२१ के बाद इन्हे कलकत्ता विश्वविद्यालय में आमंत्रित किया गया। सर आशुतोष मुखर्जी ने, जो उस समय के एक महान् शिक्षाशास्त्री थे, और जिन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय को अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसधान का केन्द्र बनाया था, इस युवा-दार्शनिक प्रतिभा को पहचाना, और इन्हें अपने विश्वविद्यालय के दर्शन की 'पीठ' के गौरवमय पद पर नियुक्त किया (स्मरणीय है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक 'पीठ' जार्ज

पू 'प्रोफेसर ऑफ फिलॉसफी' की थी। इसके पहले प्रोफेसर डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील मैसूर विश्वविद्यालय के वाइस चासलर (कुलपति) होकर मैसूर चले गए थे। इसी रिक्त जगह की पूर्त्ति के लिए डा० राधाकृष्णन् को चुना गया था)।

कलकत्ता विश्वविद्यालय मे प्रवेश करते ही इनकी प्रतिभा का प्रकाश चारो तरफ फैलने लगा, सन् १९३६ मे विश्वविद्यालय ने इन्हे ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयो की कॉन्फ्रेस में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। सर आशुतोष मुखर्जी की मृत्यु के बाद इन्हे पोस्ट ग्रेजुएट इन आर्ट्‌स का अध्यक्ष (१९२७, १९२८ और १९३० में) चुना गया। विश्वविद्यालय की ओर से ये अन्तर्राष्ट्रीय फिलॉसफी काग्रेस, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी मे भी सम्मिलित हुए। इन्होने कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक 'आर्ट्‌स फैकल्टी क्लब' की भी स्थापना की, जो पूर्णत. लोकतान्त्रिक सस्था थी। आज भी इनके तत्कालीन विद्यार्थियो के मुख से आवाज आती है—ए वन्डरफुल प्रोफेसर (एक आश्चर्यजनक अध्यापक)।

आन्ध्र विश्वविद्यालय में (कुलपति के रूप में)—

मई, १९३१ ई० में डा० राधाकृष्णन आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति बनाए गए। जिस समय इन्होने वहाँ का कार्यभार सभाला, उस समय वह विश्वविद्यालय मात्र परीक्षा लेने की एक एजेन्सी भर था। लेकिन, वहाँ जाने के बाद विश्वविद्यालय के चतुर्दिक विकास के लिए इन्होने अनेकानेक कार्य किए, यथा—इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एव तेलुगु आदि के विभाग प्रारम्भ करवाए,सर जहाँगीर कोयाजी,प्रो० हीरेनमुखर्जी, हुमायूँ कबीर, डा० लकासुन्दरम्, डा० शेषान्द्रियम्, डा०भगवन्तम् डा० वी० के० आर० वी० राव आदि विद्वानो को विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप मे नियुक्त किया : कला एव विज्ञान–दोनों

के लिए अलग-अलग भवन का निर्माण करवाया, छात्रावास मे जातीय साम्प्रदायिक रसोई-व्यवस्था का अन्त कर सार्वदेशिकता को प्रश्रय दिया गया। फलतः छात्रो मे राष्ट्रीय एकता का अभ्युदय हुआ।

इस अवधि में ये सिर्फ उपकुलपति का ही काम नहीं सम्भालते थे, बल्कि देश-विदेश की अनेकों सस्थाओं से सम्बद्ध थे; यथा—कलकत्ता विश्वविद्यालय मे दर्शन के प्रोफेसर बने हुए थे, राष्ट्रसंघ की बौद्धिक सहकार समिति के सदस्य थे जिसके लिए यदाकदा जेनेवा जाना पड़ता था, साथ ही आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे 'स्पाल्डिग चेयर ऑव ईस्टर्न रिलिजन एण्ड ऐथिक्स' के प्रोफेसर भी थे।

हिन्दू-विश्वविद्यालय में (उपकुलपति के रूप में)—

सन् १९३९ मे महामना मालवीयजी के अनुरोध पर डा० राधाकृष्णन् ने हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। यहाँ आने के बाद इनका कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि मार्च, १९४१ में इन्हे कलकत्ता विश्वविद्यालय से त्यागपत्र देना पड़ा। अपने त्यागपत्र मे इन्होने लिखा था—"मैंने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग कलकत्ता विश्वविद्यालय और बंगाल की जनता की सेवा को अर्पित किया है। जुलाई, १९४० से यह सम्बन्ध टूट रहा है पर मैं विश्वास दिलाता हूँ, आपके प्रति मेरे हृदय मे सदा प्रेम बना रहेगा।"

इस प्रकार कलकत्ता विश्वविद्यालय से त्यागपत्र देने के बाद इन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा से हिन्दू विश्वविद्यालय की और अधिक सेवा की—गीता पर व्याख्यान देने का सिलसिला जारी रखा, हिन्दी और अग्रेजी के शिक्षकों के वेतन में एकरूपता लाए, बड़ौदा महाराज के आर्थिक सहयोग से विश्वविद्यालय में

तुलनात्मक धर्म की एक पीठ की, स्थापना की फिर अन्यान्य राजा-महाराजाओं से चन्दा लेकर विश्वविद्यालय के आर्थिक कोष को मजबूत किया।

इस प्रकार १९३९ से १९४८ तक ये हिन्दू-विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे, और अपने कार्यकाल में तन-मन-धन से इन्होने उसके चतुर्दिक विकास मे सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

स्वाधीनता-संग्राम में योगदान—

"डा० राधाकृष्णन् महापडित है, महान् वक्ता है और एक आदर्श लेखक और विचारक है—यह सब निर्विवाद है। वे निडर और निर्भय भी है। परन्तु वे राजनीतिज्ञ व मुतसद्दी नही, केवल एकमात्र देशभक्त है"—ये शब्द है मार्शल स्टालिन के।

और वस्तुतः यदि आद्योपान्त डा० राधाकृष्णन् के जीवन-दर्शन का अध्ययन किया जाए, उनके कार्यकलापो का विहगम दृष्टि से अवलोकन किया जाए, तो यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाएगा कि वे सच्चे अर्थ मे एक आदर्श लेखक, विचारक एव देशभक्त है, एक कुशल राजनीतिज्ञ नही। और इसीलिए भारतीय स्वा-स्वाधीनता आन्दोलन में उनके योगदान का मूल्याकन एक कुशल राजनीतिज्ञ के रूप मे नही, बल्कि एक आदर्श लेखक, विचारक, शिक्षा-शास्त्री, दार्शनिक एव देशभक्त के रूप मे ही किया जाना चाहिए।

डा० राधाकृष्णन् ने अनेको प्रकार से अपने देशवासियों को सहयोग प्रदान किया, यथा—सर मारिस हैलेट के हिन्दू विश्व-विद्यालय को उन्होने 'वार कैम्प' या अस्पताल के रूप मे बदलने के प्रयास को सफल नही होने दिया, इस तथ्य की खुलेआम घोषणा की, कि अंग्रेजी प्रशासन को भारत का नैतिक समर्थन-

प्राप्त नहीं है, विश्व के शाश्वत महत्त्व का प्रचार-प्रसार किया, अखिल जनमानस को भारतीय दृष्टिकोण के प्रति उन्मुख किया, साथ ही कांग्रेस में एकता लाने की भी यथेष्ट कोशिश की। अपने भाषणों के माध्यम से लोगों में आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास एवं आत्म-गौरव उत्पन्न किया – इस प्रकार संक्षेप में यही जान लिया जाए कि अपने दर्शन, साहित्य एवं विचारों के माध्यम से उन्होने अखिल विश्व जन-मानस की सद्भावनाओं एव शुभेच्छाओ को भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की ओर झुकाया, और सारे ससार मे भारतीय संस्कृति के शाश्वत गौरव को प्रतिष्ठित कर भारतवासियों को निर्भीक होकर आगे बढने की सत्प्रेरणा प्रदान की।

सत्य, अहिंसा, प्रेम एव करुणा के सम्बन्ध में उनके अन्तर्निहित विचार क्या थे, इसका वर्णन उन्होंने गाँधीजी के व्यक्तित्व-विश्लेषण में किया है। उनके विचारो से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि गाँधीजी के व्यापक मानवीय सिद्धान्तो को डा० राधाकृष्णन् का नैतिक समर्थन प्राप्त था।

स्पष्टीकरण के लिए एक-दो उद्धरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

"प्रेम-प्रणाली का प्रयोग अब तक कहीं-कहीं कुछ व्यक्तियो ने निजी जीवन मे ही करके देखा था। परन्तु गाँधीजी की परम सफलता यह है कि उन्होने इसे सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति की योजना बनाकर दिखा दिया है। उनके नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका और भारत में संगठित समुदायों ने अपनी शिकायत दूर करने के लिए बड़े पैमाने पर इसका प्रयोग करके देखा है। राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए शारीरिक हिंसा का सर्वथा परित्याग करके राजनीतिक क्रान्ति के इतिहास में उन्होंने इस नई योजना का विकास करके दिखाया है। यह

योजना या विधि भारत की आध्यात्मिक परम्परा को हानि नही पहुँचाती, बल्कि उसी मे से जन्मी है।

"जबतक सब राष्ट्र एक-दूसरे से स्वतन्त्रता और मैत्री का व्यवहार न करेंगे और जबतक हम संगठित और समन्वित सामाजिक जीवन की नई धारणा को विकसित न करेंगे, तब-तक हमको शान्ति नही मिलेगी। इस लोक के मानव-समाज और सभ्यता का भविष्य बन्धुता, स्वतन्त्रता, न्याय और मनुष्य-प्रेम की उन गहरी विश्व-भावनाओं के साथ बँधा हुआ है जो गाँधीजी का जीवन-प्राण बन चुकी है, हिंसा और द्वेष से पूर्ण इस संसार में गाँधीजी की अहिंसा हमे इतने मनोहर स्वप्न-सी प्रतीत होती है कि क्रियान्वित होने का विश्वास नही होता। लेकिन उनके लिए तो ईश्वर, सत्य और प्रेम एक ही हैं और ईश्वर चाहता है कि हम नतीजे की परवाह न करके सत्य और प्रेम के अनुयायी बने। सच्चा धार्मिक पुरुष सत्य की खोज वैसी ही तत्परता से करता है जैसी तत्परता से चतुर व्यापारी अपने लाभ-हानि की। वे अपने प्यारे-से-प्यारे वैयक्तिक तथा सामाजिक स्वार्थों का सर्वथा परित्याग कर चुके हैं; उन्ही में यह कहने का बल और साहस हो सकता है कि 'मेरे स्वार्थ को हानि भले ही हो, परन्तु ईश्वर की इच्छा पूर्ण हो'।"

इस प्रकार डा० राधाकृष्णन् ने भारतीय स्वाधीनता-सग्राम को सिर्फ मानसिक सहयोग ही नही प्रदान किया है, बल्कि हार्दिक और आत्मिक सहयोग भी प्रदान किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग संस्थान में—

१९३१ में ही राष्ट्रसघ ने डा० राधाकृष्णन् को अपनी 'अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग समिति' का सदस्य नियुक्त किया।

इसी संस्था के माध्यम से अनेकानेक शैक्षणिक सुधार-कार्य किए गए। फिर यूनेस्को (यूनाइटेड नेशंस ऑफ एजुकेशन, कल्चर एण्ड साइंटिफिक ऑर्गनाइजेशन—संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा-सस्कृति-विज्ञान संस्था) की भी स्थापना की गई, जिसमें प्रारम्भ से ही आपकी स्थायी कार्य-समिति के सदस्य के रूप में स्थान मिला। १९५९ में इसका वार्षिक अधिवेशन बेरूत में बुलाया गया, जिसका अध्यक्ष आप ही को बनाया गया था। और फिर बाद में आप ही की योजना के अनुसार 'यूनेस्को' का अधिवेशन नई दिल्ली में बुलाया गया, जिसके परिणामस्वरूप दिल्ली का विज्ञान-भवन एवं जनपथ-होटल का निर्माण हुआ।

राजदूत के रूप में—

१९५० में डा० राधाकृष्णन् मास्को में राजदूत नियुक्त किए गए। उस समय रूस और भारत के बीच कोई खास मधुर सम्बन्ध न था। यही जान लिया जाए कि स्तालिन भी भारत को ब्रिटेन का अनुवर्ती राष्ट्र कहा करने थे। ऐसी तनावपूर्ण स्थिति में भी डा० राधाकृष्णन् ने दोनो देशो के बीच मैत्री की स्थापना की।

आप रूस मे राजदूत का भी काम सम्भालते थे और आक्सफोर्ड मे तुलनात्मक धर्म की प्रोफेसरी भी किया करते थे। अतः साल मे तीन बार (प्रत्येक बार आठ सप्ताह के लिए) आपको आक्सफोर्ड जाना पड़ता था, और नियत समय तक वहाँ रहकर आप अपनी व्याख्यान-माला समाप्त करते थे।

आपने रूस जैसे साम्यवादी देश में रहकर भी अपने आचार-विचार एवं रहन-सहन में किसी तरह का हेर-फेर नहीं किया यहाँ तक कि ठंडक बर्दाश्त करते रहे, लेकिन अपनी धोती नहीं उतारी, जबतक रहे, धोती में ही शान के साथ हर जगह टहलते

रहे। साथ ही आपने रूस मे रहकर ही उपनिषदो के अनुवाद का भी कार्य किया और जब रूस से विदा होने लगे, तब स्तालिन जैसे व्यक्ति को भी अपनी सहृदयता एव अन्तर्निहित मानवता के कारण रुला दिया। उन्हे कहना ही पड़ा—"वे (डा० राधाकृष्णन्) एक सकीर्ण देश-भक्त नही है। उनका हृदय पीड़ित मानवता के लिए द्रवित होता है।"

उपराष्ट्रपति के रूप में—

सन् १९५२ में डा० राधाकृष्णन् उपराष्ट्रपति चुने गए। किसी ने आपका विरोध नही किया। ११ मई, १९६२ तक आपने इस गौरवमय पद को सुशोभित किया। इस अवधि मे आपने चीन, जापान, रूस आदि देशो का व्यापक रूप से भ्रमण भी किया। जहाँ भी गए, एक महान् दार्शनिक एव विश्व-नागरिक के रूप मे आपका अभिनन्दन किया गया। भारत को पर-राष्ट्र नीति को जितना बल आपके विचारो से मिला, उतना शायद ही और किसी राजनीतिज्ञ के विचारो से मिला होगा।

एक वार अमेरिका के ध्यान को मानवीय जीवन-प्रणाली की ओर आकृष्ट करते हुए आपने शेराटो रेडियो पर बोला भी था—

"विश्वक्रान्ति की प्रगति हो रही है। यह कम्युनिज्म से सर्वथा स्वतन्त्र है। भूखे, रोगी, तिरस्कृत निवासी, जोकि गैर-कम्युनिस्ट जगत् का बहुसंख्यक भाग है, आर्थिक प्रगति और विकास की माँग कर रहा है। यदि हम इन समस्याओ को हल करने से झिझकेंगे तो अन्य लोग हमारे प्रमाद और हमारी अक्षमता का अनुचित लाभ उठाएँगे। आज हम जो कुछ चाहते हैं, वह अमेरिकी जीवन-प्रणाली या रूसी जीवन-प्रणाली नही है, प्रत्युत मानवीय जीवन-प्रणाली है।"

इस प्रकार उपराष्ट्रपति रहते हुए भी डा० राधाकृष्णन् ने विश्व-मानव के कल्याण के लिए मानवीय संस्कृति का उद्घोष किया। १९६१ में जब डा० राजेन्द्रप्रसाद बीमार पड़े, तब उन्होने कुछ दिनो तक राष्ट्रपति के पद को भी बड़ी कुशलता-पूर्वक सभाला। राज्यसभा के वातावरण को पवित्र बनाए रखने में भी उनके विचारो का योगदान अविस्मरणीय है। जबतक उपराष्ट्रपति के पद पर रहे, तबतक अपने सौजन्य, भद्रता, प्रज्ञा एवं शिष्टता से राज्यसभा के सभी सदस्यों में पारस्परिक प्रेम-भाव बनाए रखा, और सदन को यह सिद्धान्त-वाक्य देकर वहाँ से आगे बढ़े कि असाधारण परिस्थिति में भी मनुष्य को मानसिक सतुलन नही खोना चाहिए।

राष्ट्रपति के रूप में—

भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के बाद डा० राधाकृष्णन् ने ही राष्ट्रपति के गौरवमय पद को सुशोभित किया, उक्त अवसर पर अपनी हार्दिक बधाई भेजते हुए विश्व-प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी लार्ड बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा था—"फिलासफी सम्मानित हुई है। समस्त विश्व के शान्तिप्रिय विवेकशील समाज ने इस चुनाव का अभिनन्दन किया है।"

और वस्तुतः राष्ट्रमूर्ति डा० राजेन्द्रप्रसाद के बाद विश्व-प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् का राष्ट्रपति पद पर सुशोभित होना अपने-आप मे एक अविस्मरणीय और अखिल विश्व के लिए एक अभूतपूर्व घटना थी। सारे संसार के शान्तिप्रिय विवेकशील राष्ट्रो ने उस निर्वाचन का हृदय से स्वागत किया, सबो ने अपनी-अपनी हार्दिक बधाई भेजी। डा० राजेन्द्रप्रसाद को भी हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने भी यह महसूस किया कि मेरे आश्रमवासी बन जाने के बाद अब जनता को थोड़ा भी नही अखरेगा, और अब मैं भी पूर्णतःनिश्चिन्त होकर प्रभु की पूजा-अर्चना

में अपना शेष समय व्यतीत करूँगा और वस्तुतः जैसी राष्ट्रमूर्ति डा० राजेन्द्रबाबू की कल्पना थी, वैसा ही हुआ भी। सबो ने यह महसूस किया कि एक महान् सन्त के बाद एक महान् दार्शनिक का राष्ट्रपति पद पर सुशोभित होना सिफ धर्मप्राण भारत के लिए ही नही, सम्पूर्ण विश्व के लिए गौरव की बात थी।

डा० राधाकृष्णन् ने भी अपने दर्शन, विचार, निष्काम सेवा-भावना एव विलक्षण प्रज्ञा के आधार पर यह सिद्ध कर दिया, कि वस्तुत: भारत विश्व का गुरु है और अनन्तकाल तक अखिल विश्व को इससे आत्म-तत्त्व की शिक्षा लेनी ही होगी। भारतीय लोकतंत्र का आधार ही मानव-चेतना को समृद्ध करना है, सम्पूर्ण विश्व में शान्ति, सहयोग और सहअस्तित्व का वायुमडल तैयार करना है।

चीनी आक्रमण के समय भी उन्होने अद्भुत साहस का परिचय दिया—सारे देश में संकटकालोन परिस्थिति की घोषणा की, देश के आर्थिक साधनो का सुन्दरतम ढग से सदुपयोग करवाया, अपने परिष्कृत विचार एव दर्शन के माध्यम से उस अभूतपूर्व सकट की घडी मे भी अपने देशवासियो के मानसिक सतुलन को कायम रखने का अथक प्रयास किया, तथा अपने सार्वभौमिक विश्व-दर्शन के बल पर सारे ससार के ध्यान को अपने देश की ओर आकृष्ट किया, विभिन्न देशो का दौरा कर वहाँ के नागरिको की सहानुभूति प्राप्त की, और लोकतत्र की ओर अखिल विश्व-जन-मानस के ध्यान को आकृष्ट किया।

आपने राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के विविध पहलुओं पर अपने सारगर्भित और कल्याणकारी विचार प्रकट किए तथा विश्व-सहयोग के लिए एक नये वायुमडल का सृजन किया।

'देश के भीतर और बाहर की स्थिति' पर भाषण देते हुए

आपने अमेरिकन पत्रकारों के बीच एक बार कहा था—

"भारत में विभिन्न धार्मिक विश्वासों, जातियों और आर्थिक स्तरों के चवालीस करोड़ लोगों ने पिछली दो शतियों के मध्य राष्ट्रीय सामंजस्य और लोकतंत्रीय भावना उत्पन्न करने में एक ऐसी सफलता प्रप्त की है, जिसे देखकर निराशावादी भविष्य-वक्ताओं को दाँतो-तले उँगली दबानी पड़ी है। राष्ट्रीय सामजस्य 'अत्याचार द्वारा या किसी अधिनायक द्वारा' उत्पन्न नही हुआ है; प्रत्युत, यह भारतीय लोगो की इस सामान्यता का परिणाम है कि मनुष्य की आध्यात्मिक और भौतिक स्वतंत्रता एव उसका कल्याण ही सबसे महत्त्वपूर्ण है।"

भारत-चीन के सम्बन्ध में भी आपके निष्पक्ष विचार थे—आपने खुलेआम अपने विचारो का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था—"इसे हमने अपने-आप नहीं चुना है। इसने भारत को इस विश्वास के साथ अपनी सैन्यशक्ति बढाने के लिए बाध्य किया है कि शक्ति, आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए आवश्यक है।"

तटस्थता शब्द का अर्थ-विश्लेषण करते हुए आपने अपने विचार निम्न शब्दों में प्रकट किए थे—"इसने लोकतन्त्रीय तथा साम्यवादी सिद्धान्तो के मध्य सम्पर्क स्थापित करने में सहायता की है। पर इसका यह अर्थ नही है कि हम लोकतंत्र के प्रति निष्ठावान नही है। भारत को लोकतंत्रीय व्यवस्था के अर्थ मे कोई भ्राति नही है।"

इसी प्रकार सहिष्णुता, समानता, भ्रातृत्व भावना, राजनीति में धर्म आदि विषयों की व्यवस्था आपने विदेशो में जाकर की थी—

विश्व-विषयक लॉस एंजेल्स परिषद् (अमेरिका) के समक्ष भाषण देते हुए आपने तमाम राष्ट्रों को चेतावनी दी—"राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सैनिक साधनो के उपयोग के

सफल होने की सम्भावना नही है । आज के जटिलतापूर्ण युग में संघर्ष अवश्यम्भावी है, लेकिन इन मतभेदो को सुलझाने के लिए सद्भावनापूर्ण राष्ट्रो के पास अनेक साधन और उपाय सुलभ है । समस्त ससार को सहिष्णुता बरतनी चाहिए । जब तक सभी लोगों के साथ समानता का व्यवहार नही होता, चाहे संसार का कोई भी देश क्यो न हो, तब तक अशान्ति का कारण विद्यमान रहेगा । जहाँ लोग विचार अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता एवं मूल अधिकारो से वञ्चित है, वहाँ स्वतंत्रता का अस्तित्व नही रह सकता । ससार के विभिन्न भागो में विद्यमान सामाजिक असमानता-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने में सहायता करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भावना की ओर महान जागृति आवश्यक है । 'अन्तर्राष्ट्रीय मार्गदर्शन' के विकास की आवश्यकता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीयता, भ्रातृत्व और सद्भावना के प्रसार का आन्दोलन तेज किया जा सके ।"

—राष्ट्रपति राधाकृष्णन् (अवनीन्द्रकुमार विद्यालकार) पृ० ६५

जीवन-दर्शन

मनुष्य के बारे में ऐसा कहा जाता है कि वह 'ईश्वर से कुछ कम है' और यह भी कि 'वह एक खत्म हो जाने वाला पशु है ।' ये परस्पर-विरोधी वर्णन-स्तोत्रो में मिलते है ।—डा० राधा कृष्णन् इसका विश्लेषण करते हुए कहते है—"मनुष्य दोनो ही है—आत्मकेन्द्रित प्राणी, ईश्वर से थोड़ा कम, और मनुष्य-रूपी पशु, जो पशु की तरह ही खत्म हो जाता है । वह प्रकृति की ममत्वहीन और उपेक्षा करने वाली शक्तियो के हाथ मे एक दुर्बल प्राणी है । वह ऐसा प्राणी है जिसके पास अद्वितीय क्षमता और गरिमा है । अब वह विभाजित व्यक्तित्व है । स्नायनिक तनाव एक भीतरी कमजोरी है—अपने साथ ही झगड़ते रहने

की स्थिति। हर व्यक्ति दो व्यक्तियों से मिलकर बना लगता है; जो परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। आगे वे अच्छे और बुरे के बीच संघर्ष, आत्म-नियन्त्रण, विज्ञान की असफलता एवं आध्यात्मिक शक्ति की ओर ध्यानाकृष्ट करते हुए कहते हैं—

"जीवन अच्छे और बुरे के बीच लगातार एक संघर्ष है। जब हम बुराई को नजरअन्दाज करते है तब निरुद्देश्य निराशा के बीच झूलते रहते हैं। सबसे कठिन समस्या आत्म-नियन्त्रण की है। विज्ञान ने हमें मानवेतर प्रकृति के ऊपर गहरा नियन्त्रण दिया है, लेकिन विज्ञान हमें अपनी ही प्रकृति को नियन्त्रित करने में सहायक नहीं होता। जबतक कि मनुष्य अपनी बृहदकाय औद्योगिक हैसियत के अनुपात में अपने आध्यात्मिक चरित्र का विकास नही कर लेता, तबतक भविष्य बराबर खतरे में रहेगा। मानवता की महती समस्याएँ साधारण कानूनों के द्वारा नही, सिर्फ व्यक्तियों के दृष्टिकोण की पुनर्रचना द्वारा सुलझाई जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह कोशिश करनी चाहिए कि वह अपने भीतर की पुरानी व्यवस्था को उतार फेंके। हरएक के नवीकरण की जरूरत है। मानवीय श्रद्धा की हर विजय और आध्यात्मिक शक्ति हमारी दुनिया को एक और उच्च स्तर तक ले जाती है, और इसे स्वतन्त्रता और एकता के लक्ष्य के निकट लाती है। मनुष्य की धर्म-यात्रा तबतक नही रुकेगी जबतक कि मनुष्य के जीवन मे न्याय और प्रेम का आधिपत्य नही हो जाता।"

—डा० राधाकृष्णन् (आधुनिक युग में धर्म)

विश्व-दर्शन

डा० राधाकृष्णन् अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे एक विश्व की धारणा को मूर्त्तिमान करने के आकांक्षी हैं। उनकी दृष्टि में

सम्पूर्ण पृथ्वी एक ही मानव-परिवार का अधिवास है। उन्हे पूर्ण विश्वास है कि जबतक विश्व-मानव को एकता का सच्चा बोध नही होगा, तबतक विश्व में शान्ति की स्थापना नही की जा सकती। वे खुलेआम घोषणा करते है—"वर्त्तमान युग की परिस्थितियाँ अणुविनाश के विषण्ण बादलों से घिरी हुई है। अणु-विनाश से मुक्ति का मार्ग विशाल योजनाएँ, सन्धियाँ या शर्तें नही हैं, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ही की चेतना है। 'समस्त विश्व एक परिवार है और हम इस परिवार के अविच्छिन्न अग है—जब यह सत्य प्रत्येक मानस के अन्दर प्रतिष्ठित हो जाएगा और वह तदनुरूप आचरण करने लगेगा, तब विश्व में शान्ति स्थापित होगी'।"

"उनकी निष्पक्ष समीक्षा ने न पूर्व को छोडा है और न पश्चिम ही को। दोनो के गुणो और अवगुणो का विवेचन करते हुए वे उनके गुणों के समन्वय को अनिवार्य और अवश्यम्भावी मानते है। विश्व मे पूर्व की थाती है और न पश्चिम की, न धर्म की, न विज्ञान की। वह उस सत्य का अनुगामी होकर रहेगा जो उसके समस्त प्राणियो के लिए कल्याणकारी है।"

वे पूरे विश्वास के साथ इस रहस्य का उद्घाटन करते है कि "मानव को मानव से मिलाने के लिए हमे हिन्दू धर्म और उसके शाश्वत सत्य को समझना होगा। जो विनाश के मेघ मानवता पर छाए हुए है उनको यही धर्म दूर कर सकता है। यह चेतना का धर्म है। चेतना का धर्म मनुष्यो की सत्तात्मक एकता का धर्म है। यह वह चेतना है जो सार्वजनीन है। अतः इसका धर्म विश्व-धर्म है, मानवता का धर्म है। यह विश्व-वन्धुत्त्व या विश्व-नागरिकवाद है।····· चेतना का धर्म वह सत्य है जो देह और मन, व्यक्ति और राष्ट्र, तथा राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र सभी

में है, जिसके विना कुछ भी सम्भव नहीं है । चेतनावाद सभी को समान देखता है । सभी चेतना हैं । सभी के जीवन का मूल्य, सभी के जीवन का अर्थ और प्रयोजन है । चेतना का दर्शन जीवन-दर्शन है । वह कोरा चिन्तन नही । वह वतलाता है, जीवन क्या है—कैसे रहना चाहिए ।"

—राधाकृष्णन् का विश्व-दर्शन (शान्ति जोशी) पृ० २४-२५

इस प्रकार डा० राधाकृष्णन् के अनुसार एक विश्व की रचना में भौतिक साधनों या बौद्धिक शक्तियों का अभाव वाधक नही है, बल्कि लालच, अहं, पद एवं सम्मान की होड़ से उत्पन्न विकृतियाँ वाधक है । अतः नये विश्व की कल्पना तभी साकार हो सकती है, जब अखिल विश्व के मानव शुद्ध हृदय से 'चेतना-धर्म' का अनुगमन करेगे ।

शिक्षा-दर्शन—

डा० राधाकृष्णन् के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को पढ़ने के वाद यही प्रतीत होता है कि वे मूलतः शिक्षक हैं । अपने जीवन के ४० वर्ष (१९०८—१९४८) उन्होंने शिक्षक के रूप में या शिक्षण-संस्थाओ के प्रवन्धक के रूप में व्यतीत किए हैं । आज भी उनका एक ही काम रह गया है—अपने दर्शन एव विचारों के माध्यम से सारे संसार के जन-मानस को शिक्षित करना—चेतना-धर्म के प्रति सबों को जागृत करना ।

मद्रास प्रेसीडेन्सी कालेज से उन्होंने अपनी शैक्षणिक यात्रा प्रारम्भ की, और जवतक राजदूत पद पर सुशोभित रहे तवतक विभिन्न विश्वविद्यालयों में जा-जाकर दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में प्रवुद्ध छात्रों को शिक्षा देते रहे । चूँकि इसकी विस्तृत चर्चा इस लेख में की जा चुकी है, अतः फिर से उसको दुहराना

युक्ति-सगत प्रतीत नहीं होता । अत· यहाँ हम सक्षेप में उनके शिक्षा-दर्शन पर ही विचार-विमर्श करेंगे ।

डा० राधाकृष्णन् का शिक्षा-दर्शन मूलतः उनके जीवन-दर्शन पर आधारित है। मानव को वे भी स्थूल रूप से दो रूपो मे देखते है—एक वह जो 'ईश्वर से कुछ कम है' और दूसरा वह जो 'खत्म हो जाने वाला पशु है।' लेकिन उनका कहना है कि 'मनुष्य दोनो ही है—आत्मकेन्द्रित प्राणी, ईश्वर से थोड़ा कम, और मनुष्य रूपी पशु जो पशु की तरह ही खत्म हो जाता है। वह प्रकृति की ममत्वहीन और उपेक्षा करनेवाली शक्तियो के हाथ मे एक दुर्बल प्राणी है। वह ऐसा प्राणी भी है जिसकी अद्वितीय क्षमता और गरिमा है। अब वह विभाजित व्यक्तित्व है। स्नायविक तनाव एक भीतरी कमजोरी है—अपने साथ ही झगड़ते रहने की स्थिति। 'हर व्यक्ति दो व्यक्तियो से मिलकर बना लगता है, जो परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हो।' लेकिन उन्हे पूर्ण विश्वास है कि शिक्षा के माध्यम से मनुष्य को चैतन्य बनाया जा सकता है। उन्हे मनुष्य के अन्तर्निहित प्रकाश में पूर्ण आस्था है। वे उसी के माध्यम से सुखी संसार का निर्माण करना चाहते है।

'पेंसिलवेनिया-विश्वविद्यालय' में एक बार भाषण देते हुए उन्होने कहा भी था—"हमारे अन्दर जो प्रकाश है, वही यह आशा बँधाता है कि हम एक अधिक सुखी ससार के निर्माण के लिए प्रयास कर सकते है। इस प्रकाश ने आगे बढने मे हमारी सहायता की है। इस प्रकाश से यह आश्वासन मिलता है कि हमारे लिए एक नये और परिवर्तित ससार का निर्माण करना सम्भव है। मेरा विश्वास न तो निराधार आशावाद पर कायम है और न घोर निराशावाद पर, बल्कि वस्तुस्थिति पर आधारित है।"

डा० राधाकृष्णन् समस्त विश्व को ही एक विलक्षणालय मानते है। उन्हे पूर्ण विश्वास है कि शिक्षा से ही मानव-मस्तिष्क का परिष्कार सम्भव है? अतः समस्त विश्वको एक इकाई समझकर शिक्षा का प्रवन्ध किया जाना चाहिए। उन्ही के शब्दों में—"भावनाओ का रूप अन्तर्राष्ट्रीय हो। हमें समस्त विश्व को एक इकाई समझना चाहिए। यथार्थ में सघर्ष तो मनुष्य के मस्तिष्कों में है। सभी महापुरुषो और सब ऋषि-मुनियों की शिक्षा का सार यही है।"

एक वार ऐडिनवरा विश्वविद्यालय (ब्रिटेन) में भाषण देते हुए उन्होने कहा भी था—"मानव को एक होना चाहिए। अपने मे विद्यमान उच्च प्रवृत्तियों को दिखाना चाहिए। यह जब होगा, तब मानव परिपूर्णता प्राप्त करेगा, मानव-इतिहास का लक्ष्य सम्पूर्ण मानव-जाति की मुक्ति है। यह लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकता है, जव राष्ट्रो की नीतियो का आधार विश्व-शान्ति की स्थापना का प्रयत्न करना हो।" स्पष्ट है कि राष्ट्रों की शिक्षा-नीति का सम्वन्ध भी विश्व-शान्ति की स्थापना से होना चाहिए।

इस प्रकार डा० राधाकृष्णन् ने सिर्फ भारत ही नही, वल्कि एशिया के साथ सम्पूर्ण विश्व की शिक्षा-प्रणाली को एक नवीन और मानवतावादी दृष्टिकोण प्रदान किया है। प्रथम एवं द्वितीय एशियाई शिक्षा-सम्मेलन (१९३७-३८) की अध्यक्षता भी आप ही ने की, और इसमें सन्देह नही कि आपकी शिक्षा-मर्मज्ञता की गहरी छाप लोगों पर पड़ी, और आपका भाषण ही एशिया की शिक्षा-प्रणाली का ठोस आधार वना। शिक्षा-व्यवस्था में चेतना-धर्म को प्रतिष्ठित करने वाले मनीषियों में आपका स्थान अत्यन्त ऊँचा है।

स्वाधीन भारत के सामने जब-जब उच्च शिक्षा की नवीन व्यवस्था की स्थापना का प्रश्न उठा, तब-तब तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना आजाद ने एक शिक्षा-कमीशन की नियुक्ति की योजना बनाई, जिसका अध्यक्ष आप ही को बनाया गया। सन् १९५० में कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, और आज भी शिक्षा-व्यवस्था का आधार मूलत: वही रिपोर्ट बना हुआ है। उस कमीशन में शिक्षा-जगत् मे अनेकानेक सुधार कार्य किए, यथा—विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग की स्थापना की गई, देश के विभिन्न भागो में स्थापित विश्वविद्यालयो मे एकसूत्रता स्थापित करने का अथक प्रयास किया गया—अनेको विधियाँ बनायी गईं, साथ ही उन्हें वित्त-चिन्ता से मुक्त करने, नये विश्वविद्यालयो की स्थापना में मदद करने, पुराने विश्वविद्यालयो का विस्तार करने, विज्ञान एव यन्त्र-तन्त्रज्ञान (टेक्नालॉजी) आदि की शिक्षा-व्यवस्था करने आदि का भी समुचित प्रबन्ध किया गया, जो आज भी भारतीय शिक्षा-प्रणाली का आधार-स्तम्भ बना हुआ है। उनकी शिक्षा-मर्मज्ञता एव शिक्षा-प्रेम को देखकर ही उनका जन्म-दिवस भी सारे देश मे शिक्षक-दिवस के रूप में मनाया जाता है। अत. इसमे कोई अत्युक्ति नही कि डा० राधाकृष्णन् परमात्मा के एक ऐसे जीवन्त प्रतिनिधि है जिनका अवतार शिक्षा के माध्यम से सारे संसार मे चेतना-धर्म को पुनश्च प्रतिष्ठित करने के लिए हुआ है। वे सन्त भी है, दार्शनिक भी है, राजनीतिज्ञ भी है, लेकिन इन सबो से अधिक एक उद्भट शिक्षा-शास्त्री है।

●